❒ श्री राम उवाच–3
चैतन्य की यात्रा

❒ आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

❒ प्रवेश : द्वितीय संस्करण
1100 प्रतियाँ
3 फरवरी 2003

❒ मूल्य : 50 रु.

❒ अर्थ सहयोगी :
आर. रतनलाल रांका, चेन्नई

❒ प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

❒ मुद्रक :
कोस्टल प्रिन्टर्स
चेन्नई-600 079.

प्रकाशकीय

आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् नक्षत्र एवम् परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म. सा. के पट्टधर हैं। आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने कर कमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण में चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की पछेवड़ी प्रदान की थी। आपका प्रथम स्वतन्त्र चातुर्मास निम्बाहेड़ा की पावन भूमि पर सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कृति उसी चातुर्मास के कतिपय मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का सरंक्षण महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्र कंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयश प्रज्ञाजी म. सा. ने किया। सम्पादन हेतु मेरे मित्र श्री इन्द्रचन्द बैद ने ख्यातनामा शब्द-शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया। सम्पादित प्रवचनों का समीक्षण कवि रत्न श्री गौतम मुनि जी म.सा. द्वारा सम्पन्न हुआ।

ग्रन्थ-प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्ता श्री रतनलालजी राँका चेन्नई, का अर्थ सहकार-रूप आग्रह रहा। इन सभी श्रद्धेय आत्मीय जनों के भरपूर सहकार से यह भागीरथ कार्य सम्पन्न हो सका। अब द्वितीय संस्कारण आपके हाथों में है। इसका प्रकाशन भी श्री रतनलालजी राँका, चेन्नई ने करवाया है। श्रद्धेय एवम् आत्मीय जनों के प्रशस्त सहकार हेतु मैं अपनी अनेकशः शुभकामनाएं एवं शुभ भावनाएँ संप्रेषित किए बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्य प्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि अज्ञानवश यदि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिये हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

हमें विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्य प्रवर की अमृत वाणी से लाभान्वित होने का सुअवसर प्रदान करेगा।

शान्तिलाल सांड
संयोजक
साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर

अर्थ-सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी राँका, चेन्नई/सारोठ

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर स्वर्गीय श्री रोड़मलजी सा. राँका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्वर्गीय श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। स्व. श्री मेघराजजी रांका के सुपुत्र श्री रोड़मलजी उदार, सरल, धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पांच पुत्र एवं एक पुत्री है। श्री राँकाजी ने अनेक व्रत-प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। नियमपूर्वक 6-6 सामायिक, स्वाध्याय आपके प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचन्दजी राँका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चेन्नई को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ-साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी आपने अपार यश प्राप्त किया। 'समता भवन', तण्डियारपेट के निर्माण में आपका मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के अध्यक्ष हैं। तृतीय एवं चतुर्थ पुत्र श्री सम्पतराजजी, श्री पारसमलजी एवं पुत्री श्रीमती नवरतनबाई रूणीवाल भी धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी हैं एवं सपरिवार चेन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवें पुत्र श्री रतनलालजी राँका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न हैं। आपका धार्मिक-सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ, तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप में समता भवन एवं उसकी गतिविधियों में काफी प्रशंसनीय कार्य किया। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ चेन्नई के मानद मंत्री हैं। अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर के आप न केवल राष्ट्रीय मंत्री एवं भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ चेन्नई के

उपाध्यक्ष है बल्कि एक कर्मठ कार्यकर्ता भी हैं। स्थानीय एवं बाहर की अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं एवं उनमें आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहता है। 'आर.आर. प्लास्टिक' आपका व्यापारिक प्रतिष्ठान है। आप केवल व्यापार तथा धनोपर्जन में ही नहीं अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक हैं।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति, संत सेवा एवं आतिथ्य-सत्कार में सदैव अग्रणी रहती हैं एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती हैं। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है कि 'हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है।' आपके दो सुपुत्र- श्री मुकेशकुमार और राकेशकुमार भी अपने पिता के पदचिह्नों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्र वधु सौ. दीपा भी धार्मिक प्रवृति से ओतप्रोत है। आपके दो सुपौत्र- श्री ऋषभकुमार व श्री आदेश्वरराज हैं।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है। आदर्श त्यागी, पंडितरत्न, शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्श त्यागिनि विदुषी साध्वीश्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनोई व बहन हैं।

आपका परिवार स्व. आचार्यश्री नानेश एवं वर्तमान आचार्यश्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ को वर्तमान आचार्यश्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए सहायतार्थ अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी है। हमें अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के पाँच संग्रह निकल चुके हैं और अब द्वितीय भाग का द्वितीय संस्करण आपके समक्ष है। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ...

केशरीचन्द सेठिया

अनुक्रम

1. गुरू-निष्ठा का स्वरूप

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पति नो हेतु ललना।
शान्त सुधा रस जल नीधि, भव सागर मा सेतु ललना।।

शिव शंकर जगदीश्वर, चिदानन्द भगवान ललना।
जिन अरिहा तीर्थंकरू, ज्योतिस्वरूप असमान ललना।।

आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकाराए।
इंगियागार, सम्पण्णे, से 'विणीए' त्ति वुच्चई।।

उतरा- 1/2

प्रार्थना में कवि ने भगवान् सुपार्श्वनाथ को अनेक नामों से संबोधित किया है – शिवशंकर जगदीश्वर चिदानन्द, भगवान, जिन, अरिहन्त तीर्थंकर, ज्योतिस्वरूप, असमान, किसी भी नाम से संबोधित करें पर नाम की यथार्थता क्या है, हम उसमें पहुँचें। शिव कौन है, शंकर कौन है? जिन तीन प्रमुख देवताओं ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम लिये जाते हैं उनमे शिव का ही नाम है महेश और उसका अर्थ किया जाता है जो सृष्टि का विनाश करता है। पर यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं है यहाँ शिव का अर्थ है कल्याण–रूप शंकर अर्थात "शमं करोति" जिसके वैर कषाय शमित हो जाये वह शंकर है। कदाचित् यह अर्थ लिया जाय कि सृष्टि का विनाश करने वाला शंकर है तो उसे भी एक विवक्षा से संयोजित किया जा सकता है। आत्मा अजर, अमर, शाश्वत है, न उसका जन्म है न मृत्यु। आत्मा द्रव्य रूप से अखंड शाश्वत तत्व है पर कषायों के वशीभूत होकर स्वयं में एक सृष्टि की रचना कर लेती है। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, डाह, मद, मत्सर आदि आत्मा की ही सृष्टि है। अपनी इस सृष्टि में आत्मा वैसे ही उलझ जाती है जैसे मकड़ी जाले का निर्माण कर उसमें उलझ जाती है। आत्मा वैभाविक गुणों से जिस सृष्टि की

रचना कर लेती है भगवान सुपार्श्वनाथ ने उस सृष्टि का विनाश कर लिया है, इसलिए वे शंकर हैं और उनको वंदन करने से उस सम्पूर्ण वैभाविक सृष्टि का नाश होता है। परन्तु वैसा वंदन करने के लिए विनय आवश्यक है। विनय नम्रता ही नहीं है बल्कि वह भक्ति और बहुमान का विशेष प्रवाह भी है। जब वह भाव प्रवाहित होगा तब कहीं जाकर सुपार्श्वनाथ भगवान् को हम वंदन कर पायेंगे। ऐसी विनय का स्वरूप समझाते हुए कहा गया है कि–आज्ञा निर्देशानुसार हो, गुरू के उपपात में रहे और **"इंगियागार संपण्णे"** अर्थात् इंगित और आकार से संपन्न हो।

पर विचार करें कि इंगित और आकार से संपन्न तो धूर्त भी होता है, उसकी भी कुछ आकार व चेष्टाएँ ऐसी होती हैं कि एक धूर्त के भाव दूसरा धूर्त जान लेता है पर यहाँ उसे ग्रहीत नहीं किया गया है। यहाँ जिस प्रकार के **"इंगियागार संपण्णे"** की बात कही गई है वह अवस्था भीतर से प्रस्फुटित होती है। उस अवस्था की बात का कोई विस्तृत विवेचन पुस्तकों में नहीं मिल पायेगा, किताबों के ज्ञान से भी ऐसी अवस्था नहीं बन पायेगी। ऐसी अवस्था तो गुरू का सान्निध्य प्राप्त करने पर ही बनेगी। जब शिष्य गुरू के चरणों में आता है उस समय उसके भीतर अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभाव होता है परन्तु जब वह गुरू के निर्देशानुसार चलने लगता है तब यह अभाव गुण बन जाता है। क्योंकि तब उसका मस्तिष्क एक साफ स्लेट की तरह होता है जिस पर नये सिरे से लिखा जा सकता है। वह स्वयं गीली मिट्टी के नर्म लोंदे के रूप में गुरू कुम्हार के हाथों में पहुँचता है। गुरू कुंभकार उसे चाक पर चढ़ा देता है, चाक घुमाया जाता है और यदि वह निर्देश के अनुसार घूमता चला जाता है तो वह घड़ा बन जाता है। जो लोंदा था वह घड़ा बन जाता है। फिर वह कुंभकार के उपपात समीप में रहता है तो सुरक्षित बना रहता है। उसी सुरक्षा के आधार पर उसे जिधर चाहें उधर नमाया जा सकता है। और हम

जानते हैं कि जो घड़ा नमता है उसी में पानी भर पाता है। जिधर इशारा करें उधर घड़ा नम जाता है एक दिशा में ही नहीं, सभी दिशा में मात्र इशारा पाकर ढ़ल जाता है। **"इंगियागार संपण्णे"** बनने से पूर्व या स्रोत का प्रस्फुटन करने से पूर्व, आज्ञा–निर्देशानुसार और गुरू के उपपात में रहते हुए अपनी प्रतिभा से उसे स्वयं को जगाने की क्षमता पैदा करनी होती है। कभी–कभी ऐसी क्षमता भय से भी आती है पर वह कारगर नहीं होती। क्योंकि वह एक प्रकार का दबाव होता है। यदि भीतर ज्योति का प्रगटीकरण हुआ है तो वह स्वतः परिणमन मांगेगा। पर जो भय या लोक–लज्जा से आया है, वह समर्पित नहीं होगा।

एक सेठ था। उसके घर में एक कन्या थी इतनी जिद्दी कि किसी की नहीं सुनती थी, हर एक से लड़ना, मार–पीट कर लेना, ताने कसना उसकी आदत थी। सभी उससे परेशान थे। सेठ भी दुःखी था। कन्या बड़ी हो गई, शादी की बात चली पर कन्या के 'गुण' तो गाँव में फैले हुए थे। कोई पहुँचता, गांव में पूछताछ करता और लोगों के उद्गार सुनता तो सेठ के घर गये बिना ही लौट जाता। आस–पास के इलाके में भी बात फैल गई थी कि कन्या ढीठ है। पास के गांव के एक लड़के ने विचार किया कि उससे विवाह करूँ। उसने पिता के सामने बात रखी। उन्होंने कहा– "क्या करोगे, घर में रोज महाभारत मचेगी जीना मुश्किल हो जायेगा, फिर विचार करोगे कि अब क्या करूँ ?" लड़के ने कहा– "वह कन्या ऐसी है तो क्या मैं पुरूष होकर उसे सुधार नहीं सकता ? यदि नहीं तो फिर मैं पुरूष कैसा?" "कैसे सुधारोगे ?" "मेरा तो मन हो गया कि विवाह उसी से करूगाँ।" वह पहुँचा सेठ से बात करने। सेठ ने सोचा चलो कोई आया तो सही, पर मैं भी कह दूँ ताकि बाद में लड़की पर कोई मुसीबत न आये। सेठ ने बता दिया कि उसकी पुत्री कैसी प्रकृति की थी। लड़के ने कहा– "आप उसका विचार मत करिये और इच्छा हो

तो बात तय करिये।" बात तय हो गई, ठीक समय पर वर बारात लेकर आया, विवाह हुआ। विदाई होने लगी तो सेठ ने बहुत सा धन–सम्पत्ति देने की कोशिश की पर लड़के ने साफ मना कर दिया। कहा– "यदि आप कुछ देना ही चाहते हैं तो आपके यहाँ के मिट्टी के बर्तन बहुत प्रसिद्ध हैं वे छकडे में (बैलगाड़ी) भरकर दे दीजिये।" सेठ ने सोचा मांगा भी तो क्या मांगा–मिट्टी के बर्तन! खैर, सेठ ने छकड़ा भरवा दिया। गाड़ी रवाना हुई और पीछे–पीछे एक गाड़ी में वर–वधू भी। राह में चलते हुए एक ऐसा इलाका आया कि मिट्टी के बर्तन खड़–खड़ बजने लगे। दूल्हे ने गाड़ीवान से कहा– उन आगे वालों से कह दो कि खड़ खड़ नहीं करे, जानते हो जो मेरी बात नहीं मानता उसके साथ कैसा बर्ताव होता है ?" गाड़ीवान ने आवाज लगा दी पर भला बर्तन मानते ? दो चार कदम चले फिर वही आवाज आने लगी। दूल्हे ने कहा–"मैं ने कहा ना कि उन्हें मना करो, आवाज न करें, मुझे आवाज के कारण नींद नहीं आ रही है। पर आवाज सुने कौन ? फिर तीसरी बार कहा "तुमने चेताया नहीं, मैं सोच रहा था चेत जायेंगे, पर उनकी ये मजाल, एक बार और चेता दो।" गाड़ीवान ने कहा–"हजूर वे सुनते ही नहीं।" दूल्हे ने कहा–"गाड़ी रोको।" वह नीचे उतरा और चिल्लाया– "बार–बार चेताया पर मानते ही नहीं।" यह कह कर उसने उठाया डंडा और धड़ा–धड़ शुरू कर दी पिटाई,। सारे बर्तन चूर–चूर हो गये। अब गाड़ी चली तो आवाज नहीं आ रही थी। दूल्हे ने कहा–"आखिर लातों के देव बातों से नहीं मानते"। घर पहुँचकर पत्नी से कहा–"मेरा स्वभाव कठोर है मुझ से बिना पूछे कोई काम नहीं करना, यदि मेहमान भी आये तो उन्हें जो परोसना है वह भी मेरे निर्देश के अनुसार ही।" वेचारी घबरा गई थी सोचा– जैसा कहें वैसा ही करना उचित है। उसने कह रखा था कि बायीं आँख का इशारा करूँ तो तेल परोसना, दायीं आँख का इशारा करूँ तो घी परोसना। एक बार कन्या के पिता ने सोचा देख तो आऊँ क्या हाल–चाल हैं। दूल्हे के ससुर जी भोजन करने बैठे, पत्नी को बांयी

आंख का इशारा किया उसका कलेजा बैठ गया। पिता को खिचड़ी में तेल कैसे परोसूँ ? उसने पति से मिन्नतें भी कीं पर उसने तो बाँयी आँख का ही इशारा किया और नहीं चाहते हुए भी तेल परोसना पड़ा। पिता ने देखा यहाँ तो इशारे से गति हो रही है और मेरे घर रहकर यह उद्दण्ड हो गई थी। यहाँ तो जीवन ही बदल गया।

यह इंगित और आकार को भय से समझाईश का उदाहरण है। पर प्रभु जो कह रहे हैं वहाँ भय नहीं है। प्रभु तो कह रहे हैं–हमें 'अभय' बनना है। भीतर से प्रकटीकरण हो, प्रस्फुटन हो। एक दृष्टांत लें। एक बार बात ही बात में अरिष्टनेमि कुछ मुस्कुराए, तो सत्यभामा ने श्री कृष्ण से कहा– 'ये अब शादी के लिए तैयार हैं।' कृष्ण ने राजमति से संबंध तय कर दिया। विवाह के लिए बारात रवाना हुई। इन्द्र को भी आश्चर्य हुआ। उन्होंने ब्राह्मण रूप बनाया और कहा यह समय विवाह का नहीं है और मुहूर्त भी नहीं है। विवाह कैसे कर रहे हो ?" कृष्ण ने कहा– "अरे ब्राह्मण देवता, तुम कहाँ से आ गये ? तुम्हें पीले चावल किसने दिये थे ? जैसे तैसे तो इन्हें तैयार किया है और तुम काम बिगाड़ने आ गये।" यह सुनकर शक्रेन्द्र चला गया और रथ आगे बढा। आगे देखा बाड़े में अनेक पशु–पक्षियों को बंद किया हुआ था। वे करूण–क्रन्दन कर रहे थे। अरिष्टनेमि ने सारथी से पूछा– "ये पशु–पक्षी क्यों बंद किए गए हैं।" सारथी ने बताया–"आपके विवाह में बहुत से मांसाहारी बाराती भी हैं। मांस इन बारातियों के आहार के लिए इन्हें बंद कर रखा है।" अरिष्टनेमि गमगीन हो गए, चेहरे पर करूणा के भाव निर्झरित हुए। इंगित को समझकर सारथी रथ से नीचे उतरा, बाडे खोल दिये। सभी पशु–पक्षी भागने लगे। अरिष्टनेमि कुमार ने राजकीय चिह्न को छोड़कर सारे आभूषण उतार दिये। अरबों–खरबों का मान, सोना, रत्न, हीरे, मुकुट के सिवाय सारे आभूषण सारथी को दे दिये। किसने कह दिए ? "इंगियागार संपण्णे" मुख से कहा नहीं कि बाड़े को खोल दो। बाड़ों के [illegible]

वाला यदि इंगित और आकार को समझा नहीं तो उसने फिर क्या प्राप्त किया ? जमाली भगवान् का शिष्य भी था और जंवाई भी। विहार की बात कही तो प्रभु ने आज्ञा नहीं दी पर वह इंगित, चेष्टा को समझ नहीं पाया और विहार कर गया। परन्तु वह विहार घातक हुआ। वह प्रकाश के बजाय अंधकार की ओर बढ़ गया और प्रभु का निन्दक बन गया। ऐसा कर्मों का चक्कर कब कैसे आ जाता है, यह व्यक्ति समझ नहीं पाता, पर अपने आप में उन भावों को "आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए" के अनुसार आत्मसात् कर ले तो फिर समझ लो कि भीतर ज्योति प्रकट हो गई। फिर सहसा कुछ बिगाड नहीं हो सकता।

महाराष्ट्र के छत्रपति शिवाजी ने अपने समय में हैदराबाद के निजाम और औरंगजेब से बहुत बार युद्ध किये। उन्होंने अपना राज्य समर्थ गुरू रामदास को समर्पित कर दिया था एवं उनके आदेश से सेवक की तरह राज्य–संचालन करने लगे थे। एक बार उन्होंने युद्ध की तैयारी की और कूच करने ही वाले थे कि ठीक समय पर समर्थ गुरू रामदास का एक शिष्य पहुँचा और एक कपड़े की पोटली शिवाजी के हाथ में थमाते हुए कहा कि इसमें जो है वही गुरू का आदेश और सलाह है। शिष्य तो यह कह कर रवाना हो गया। छत्रपति शिवाजी विचार करने लगे, गुरू ने जो आदेश और सलाह दी है वह सर्वोपरि है। वे गुरू का आदेश टालते नहीं थे क्योंकि राज्य तो उनका ही था जबकि वे स्वयं तो सिर्फ सेवक थे। उन्होंने सोचा शायद पोटली में लिखित सूत्र होगा। पोटली को खोला तो आश्चर्य चकित रह गये–ये कैसी सलाह और कैसा आदेश है! ये 'घोड़े की लीद और पत्थर किस लिए !' विचार करने लगे– गुरू ने भेजा है तो यह निष्कारण नहीं है जरूर इसमें गुप्त संकेत है जिसे मेरी बुद्धि नहीं समझ पा रही है। वे अपनी माता के भी आज्ञाकारी पुत्र थे। सोचा माँ के पास चलूँ, संभव है कुछ समाधान मिल जाय। माता जीजाबाई के

पास गये, प्रणाम किया और अपनी समस्या बयान कर दी, माता ने कहा–बेटा तुम्हारा सौभाग्य है कि ठीक समय पर तुम्हें गुरू का आशीर्वाद मिला है। शिवाजी ने कहा– पर माँ मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि यह क्या है और पोटली सन्मुख रख दी। माता ने कहा ये गुरू ने भेजा है तो अवश्य इसमें लोई गहरा सूत्र है, पर मैं भी समझ नहीं पा रही हूँ, चलो दादा कोंडदेव के पास चलें। दादा कोंडदेव ने सारी बात सुनी और गहरी मुद्रा में पहुँच गये। दो क्षण पश्चात् मुस्कान बिखेरते हुए कहा–शिवा तुम्हारी फतह निश्चित है। गुरू देव ने तुम्हें बहुत बड़ा आशीर्वाद और परामर्श उस फतह के लिए ही भेजा है और साथ में तुम्हारी परीक्षा भी ली है कि तुम उसमें उत्त्तीण होते हो या नहीं। यदि आज्ञा ठुकराते और रहस्य को समझे बिना ही पोटली को फेंक कर कूच कर गए होते तो तुम अनुत्तीर्ण हो जाते लेकिन तुम गुरू की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये हो। शिवा ! गुरू ने सलाह दी है और आदेश भी कि युद्ध के लिए जाना है। 'घोड़े की लीद' इस तथ्य को इंगित कर रही है कि घुड़सवार सेना अधिक हो, रथ–सेना, पैदल सेना भले कम हो पर घुडसवार सेना अधिक संख्या में होनी चाहिये। और दूसरा है 'पत्थर', यह किले का प्रतीक है। पर्याप्त घुड़सवार सेना अधिक होगी तो किले को फतह कर अन्य नये–नये किलों का निर्माण करोगे। शिवाजी ने गुरू के निर्देशानुसार कूच किया और फतह हासिल की। जो 'इंगियागार' से संपन्न है वह, प्रभु कहते हैं, विनयी है अर्थात् उसके भीतर विशेष प्रतिभा प्रवाहित होती है और उसके माध्यम से वह मोक्ष रूपी अगम देश की यात्रा निर्विघ्न संपन्न करता है और वहाँ पहुँचकर बन जाता है–

'शिव शंकर, जगदीश्वर, चिदानन्द भगवान ललना।
जिन अरिहा तीर्थंकरू, ज्योतिस्वरूप असमान ललना॥

इंगित–आकार से संपन्न व्यक्ति जब गुरू के पास रहता है तो वह जान लेता है कि किस समय गुरू के नेत्र का किस प्रकार

प्रस्फुटन होता है, हाथ उठता है, अथवा हाथ की विशिष्ट मुद्रा का क्या अर्थ होता है। यह उनके उपपात में रहकर ही समझा जा सकता है कि अमुक स्थिति में यह क्रिया होती है। इस प्रकार के अनुभव से उसके हदय में निर्देश अवस्थित होते जाते हैं और वह पाप में प्रवृति नहीं करता। दूसरा अर्थ है, गुरू का जिधर इशारा हो उधर ही गति होगी। पूज्य गुरूदेव नीतिश्लोक फरमाया करते हैं–

उदीरतोऽर्थः पशुनाऽपि गृहचते, हयाश्य नागाश्च वहन्ति चोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः, पोङ्डितज्ञान कला हि बुद्धयः॥

हाथी–घोड़े भी अंकुश लगाने से सही गति करने लगते हैं। हिचकारी लगाने से भेड़ें भी अपनी राह पकड़ लेती हैं। पशु भी इशारों को समझते हैं। घुड़सवार का चाबुक उठते ही, अपने पर पड़ने से पूर्व ही घोड़ा संभल जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र (४/८) में कहा है– "आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी" तात्पर्य है कि जो जातिवान घोड़े शिक्षा से शिक्षित व अनुशासित हैं व रणमूमि में स्वयं की और अपने स्वामी की रक्षा करने में सफल होते हैं, परन्तु जो शिक्षा प्राप्त नहीं हैं वे समर भूमि में सफल नहीं होते बल्कि स्वयं के जीवन को भी समाप्त कर लेते हैं।

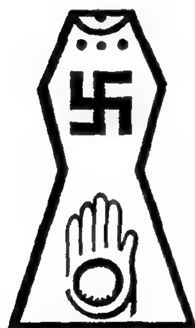
एक ऐतिहासिक घटना है। महाराणा प्रताप के पास दो घोड़े लाये गये चेतक और केतक। वे कितने शिक्षित हैं यह जानने के लिए महाराणा ने परीक्षा ली। चारों ओर तलवारों, भालों और तोपों के घिराव में केतक ने ऐसी छलांग लगाई कि वह सभी को पार कर बाहर निकल गया। उस छलांग में इतना जोर लगाना पड़ा कि उसने अपने स्वामी को तो बचा लिया पर स्वयं का बलिदान कर दिया। जब व्यापारी ने बताया कि दोनों ही घोड़ों में ऐसा गुण है तब महाराणा ने चेतक की परीक्षा नहीं ली कि कहीं मुझे ऐसे घोड़े को खो देना न पड़े। चेतक ने जिंदगी भर महाराणा का साथ निभाया। अनेक युद्धों में उसने स्वामी की जान बचाई, अपनी स्वामीभक्ति एवं

अपने कौशल के कारण वह आज भी अविस्मरणीय है। वह तो आज्ञा और निर्देश के अनुसार गति करता था।

शिष्य को तो उससे भी अधिक आज्ञापालन हेतु तत्पर होना चाहिये। गुरू के पास रहते हुए जिसने स्वछंदता का त्याग कर दिया है, तथा जो निर्देशों को ध्यान में रखते हुए आज्ञा–पालन करता है वह "इंगियागार संपण्णे" बन जाता है। यह सूत्र आज भी हमारे मार्गदर्शन हेतु सुरक्षित है। हम स्वाध्याय भी करते हैं पर समझ लें कि प्रभु की देशना सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं है। मनोरंजन तो हम अनादि काल से करते आये हैं पर प्रभु की देशना तो आत्मरंजन के लिए है, उसे सुनकर ही तृप्त नहीं होना है उस पर आचरण भी करना है। अतः यह सुनना इस रूप में हो कि वह जीवन में ढल जाय तभी यह सुनना सार्थक होगा। सुनकर बुद्धि में रिकॉड कर लिया, फिर बटन चलाया और सुन लिया तो उससे क्या फायदा ? बुद्धि से उसे हृदय तक पहुँचाना है। यदि हृदय की शुद्धि हुई, तो वहाँ परमात्मा का वास होगा। बुद्धि का उपयोग नहीं किया तो धन भी घातक हो सकता है। सम्पत्ति है तो उसका सदुपयोग करिये । बुद्धि तो सम्पत्ति है, उसमें एकत्र कर लिया पर हृदय खाली रहा तो वैसी ही अवस्था बनेगी जैसी 'भिक्षु के पात्र' की होती है। 2–4 घंटे भले ही उसमें कुछ पड़ जाये पर अन्ततोगत्वा खाली का खाली। हृदय में जिनवाणी का झरना निर्झरित होगा तो विनय के "इंगियागार संपण्णे" के स्रोत स्वतः ही प्रकट होंगे और वे जीवन को शिव अर्थात कल्याण रूप, शंकर के रूप में परिवर्तित कर देंगे तब वैर विरोध का शमन हो जायगा और जगदीश अर्थात् जगत् के ईश, तीन लोकों के स्वामी बन जायेंगे। चिदानन्द चित्त में आनंद का अमृत–कलश छलकेगा। भगवान् के छः ऐश्वर्य प्रकट होंगे, जिनसे इन्द्रियां शिथिल हो जायेंगी। कुछ भी परोक्ष नहीं रहेगा। हस्तामलकवत् सब कुछ प्रत्यक्ष हो जायेगा। ढंढन मुनि ने लड्डू चूरते–चूरते कर्मों को भी चूर दिया। आप भी तो फुलका

चूरते होंगे ! बहनें भी बाटी चूरकर चूरमा बनाती हैं। आपने भी चूरते–चूरते कभी ढंढन मुनि जैसा रसायन पाया या नहीं ? उन्होंने कर्मो को चूरा और अपने भीतर ज्योति प्रकट कर ली और फिर उन्हें अरिहन्त अवस्था उपलब्ध हो गई। हम भी ज्योति–स्वरूप बन सकते हैं पर उसके लिए बाहर नहीं भीतर ही ज्योति का प्रकटीकरण करना होगा। परन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं है, गुरू के प्रति असीम भक्ति, श्रद्धा और विश्वास रखना होगा तथा इंगियागार सम्पण्णे बनना होगा। हम सभी अपनी आत्मा को प्रक्षालित कर पवित्र करें और गुरू चरणों में समर्पित हों। जीवन के उद्धार का इससे सरल अन्य कोई उपाय नहीं है। ००

दि. 26.09.96



2. अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ें

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पति नो हेतु ललना।
शान्त सुधा रस जल नीधि, भव सागर मा सेतु ललना।।

चार दिशाओं में गमन करने वाला व्यक्ति जब पूर्व दिशा की ओर बढ़ रहा होता है तब निश्चित है कि वह किसी दूसरी दिशा से उस दिशा में बढ़ रहा होता है। जहाँ से वह चला होता है वह भी एक दृष्टि से पूर्व दिशा हो सकती है पर यह विवक्षा होगी। प्रकट रूप से तो वह पश्चिम से ही पूर्व दिशा में बढ़ता है। इसे एक रूपक मान कर इसके निहितार्थ पर विचार करें। क्योंकि पूर्व दिशा सूर्योदय की और इस कारण प्रकाश की दिशा होती है। परन्तु यह बढ़ना चार प्रकार का हो सकता है–

(1) अंधकार से प्रकाश की ओर (2) प्रकाश से अंधकार की ओर

(3) प्रकाश से प्रकाश की ओर (4) अंधकार से अंधकार की ओर

हम तनिक विचार करें– मनुष्य अंधकार चाहता है या [illegible] ? पूछने पर यही उत्तर होगा कि प्रकाश चाहता है, अंधकार [illegible] यर्थाथ इससे भिन्न है। यथार्थ में व्यक्ति प्रकाश चाहता [illegible] वह अंधकार में रमा हुआ है और अनादि काल से वह [illegible] हो चुका है, उसका पुनरपि–पुनरपि सेवन किया [illegible] अध्यवसायों में वह विषय इतना गहरा उतर [illegible] अलग कुछ देख नहीं पाता। कभी देख भी [illegible] होता।

कल्पना करें, एक तालाब है जिस [illegible] आकाश में सूर्य अथवा चन्द्र प्रका[illegible] शैवाल के नीचे रहने वाला प्राणी [illegible] कदाचित् हवा के झोंके से शैवाल [illegible]

दिख गया तो रात्रि में चन्द्रमा को देखकर उसे आश्चर्य होगा कि मैं क्या देख रहा हूँ ? वह डुबकी लगा कर अपने परिजनों को भी यह अद्भुत दृश्य दिखाने का विचार करता है। वह पहुँचा परिजनों के पास और कहा– मैंने अनुपम प्रकाश आलोक देखा है, चलिये आपको भी दिखा दूँ। पर किसी को विश्वास नहीं हुआ। इतने वर्षों में हमने कभी ऐसी चीज नहीं देखी है। वह पुनः ऊपर आता है पर इतनी देर में शैवाल पुनः छा जाती है और वह ऊपरी रचना न स्वयं देरव पाता है न दिखा पाता है। हमें भी ऊपर से प्रकाश की चाह जरूर है पर हम वैभाविक शैवाल से उतने ढ़ंके हैं कि ज्ञान के प्रकाश की बात हमारी कल्पना में भी नहीं आ पाती। धर्म कथाओं में एक आख्यान आता है– औपचारिक रूप में कि एक बार नारदजी ब्रह्मा जी के पास पहुँचे और कहने लगे– "आप अपने बैकुंठ में जो 'आनन्द धाम' है, उसमें संसार के प्राणियों को आने क्यों नहीं देते? आप तो उदार हैं, सृष्टि के रचयिता हैं, तो बैकुंठ का द्वार खुला क्यों नहीं रखते ?" ब्रह्माजी मंद–मंद मुस्कुराये और बोले, "आप जो कह रहे हैं उसकी सच्चाई की परीक्षा कर लीजिये मैंने तो द्वार बंद नहीं किए हैं पर कोई आना ही नहीं चाहे तो मैं कैसे लाऊँ ?" नारद जी ने कहा ऐसी बात कैसे हो सकती है कि कोई आना नहीं चाहेगा? ऐसा कौन है जो 'आनन्द धाम' की इच्छा नहीं करे ? ब्रह्माजी ने कहा– अच्छा ठीक है, जो भी आना चाहे आप उसे ले आइये। नारद जी को अधिकार मिलगया, सोचने लगे कतार लगा दूंगा लोगों की और भागे–भागे पहुँचे मृत्युलोक में। जब कोई खेल तमाशा होता है तब जैसे सभी लोग उसी दिशा में जाने लगते हैं मैं भी वैसी ही लाइन लगा दूंगा फिर ब्रह्मा जी को भी कहना पड़ेगा– अब विराम लो। नारदजी भूलोक पर आये और उन्होंने घर–घर घूमना शुरू कर दिया। कई घरों में तो किसी ने नारद जी की ओर ध्यान भी नहीं दिया। किसी परिवार में रूझान ही नहीं था।

इसी प्रकार घूमते–घूमते संयोग से वे एक मकान में पहुँचे जहाँ एक टूटी खाट पर एक वृद्ध पुरूष बैठा था पास में बच्चे खेल रहे थे। कोई उस वृद्ध पुरूष को डंडे की लगाता और कोई उसकी दाढ़ी खिंचता। वृद्ध बच्चों को डांटता फटकारता पर वे मानते ही नहीं थे। नारद जी ने देखा कि वह वृद्ध दुःखी था। समझ गये कि इससे कहूँगा तो जल्दी तैयार हो जायेगा। उन्होंने उससे अपनी बात कही। वृद्ध ने कहा– "आपकी कृपा है, आप ले जाना चाहते हैं और मैं भी जाना चाहता हूँ पर बात यह है कि मेरे चार पुत्रों में से मैंने तीन का विवाह कर दिया है पर एक अभी कुँवारा है, उसका विवाह किए बिना जाऊँ तो अच्छा भी नहीं लगेगा। मैं उसके भी हाथ पीले कर दूँ फिर चलूगां।" नारद जी ने सोचा कोई बात नहीं कम से कम तैयार तो हुआ। अब दूसरे को पकड़ने से पूर्व इसका काम हो जाए फिर इसे ही ले चलूँ। छोटे पुत्र का विवाह हुआ और नारदजी हाजिर हो गए। वृद्ध ने कहा आप आए तो हैं पर अभी तो शादी हुई है, बहू आई है, नेग--दस्तूर अभी बाकी है, वे तो पूरे कर लूँ। नारद जी ने कहा कोई बात नहीं। नेग–दस्तूर भी हो गए। नारद बाबा फिर आ गए। "अरे बाबाजी आपको जल्दी लगी है तो मुझे भी जल्दी कम नहीं है। मेरे तीनों पुत्रों के बच्चों के तो मैंने जन्मोत्सव मना लिये, प्रभावना बाँटना, जाति–भोज जो कुछ करना था कर लिया; अब चौथी बहू आ ही गई है तो पोता तो होना ही है। पोते का जन्मोत्सव भी मनालूँ। "नारद जी ने कहा– "ठीक है मैं प्रतीक्षा करूगां।" पोते का जन्म हुआ और नारद जी आये तो मालूम पड़ा कि पोते के आने के पूर्व ही वे तो रवाना हो चुके थे। नारद जी ने अपने दिव्य ज्ञान का उपयोग किया और पता लगाया कि इस समय वे कहाँ थे ? उन्होंने जान लिया कि वे अपने ही घर में कुतिया के रूप में जन्मे थे। नारद जी ने पुकारा अरे भाई! मैंने कहा था अब तो जाग जाओ– उठ जाग रे चेतन! निन्दिया उड़ा ले मोह राग की।

उसने पूछा, "तुम क्या कहना चाहते हो" "अरे, मैं तुम्हें वैकुंठ में ले जाना चाहता हूँ, अब भी चलो।" उसने कहा "बाबाजी, तुमने भी खूब याद दिलाई, अरे मैं भी जाना चाहता हूँ पर विचार तो कीजिए लड़कों ने बड़ी–बड़ी फैक्ट्रियाँ खोल ली हैं। नौ बजते ही घर से निकल जाते हैं, उनकी मिसेज भी घर पर नहीं रहती है, उन्हें भी आफिस जाना होता है, बच्चे स्कूल–कालेजों में पढ़ने जाते हैं, घर में कोई नहीं रहता तो मेरी जवाबदारी है कि मैं रखवाली करूँ। जब मेरा बेटा रिटायर होकर घर में रहेगा तब मैं जरुर चलूंगा।" बेटा रिटायर भी हो जायेग। बाबाजी ने कहा–तैयारी तो है। पर जब रिटायर होने की खबर लगी और नारद जी आये तो उसने कहा कुछ दिन बाद ही घर में एक बच्चे का बर्थ–डे मानाया जायेगा सभी भोजन करेंगे तो बची–खुची मिठाई का जूठन तो मुझे भी नसीब होगा। बर्थ–डे भी आ गया। नारद जी आये तो मालूम हुआ कुतिया की उस बर्थ–डे के पहले ही डेथ हो गई। बाबाजी ने सोचा अब कहाँ मिलेगा? देखा वह गटर में कीड़े की पर्याय में रह रहा था। बाबाजी ने कहा– "भाई अब तो बोध प्राप्त करो, तैयारी हो तो मैं ले चलूं।" उसने कहा–बाबाजी एक बात बता दो वहाँ ऐसा गटर या नाला मिलेगा या नहीं ? "नारद जी ने कहा अरे भाई ! क्या बात करते हो, वहाँ तो दिव्य अवस्थान है।" "होगा, मैने तो देखा नहीं, यदि वहाँ गटर नहीं है तो मैं तो यहीं आनंद में हूँ मुझे वहाँ नहीं जाना उसने कह दिया।"

उसके व्यवहार पर यदि हमें विचार आएगा तो हम हँसेंगे, फबतियाँ भी कस देंगे कि कैसा मूर्ख था? पर अपना घर तो टटोलें। क्या हमारे साथ यह घटित नहीं हो रहा है ? व्यक्ति चाहता तो है कि किचड़ से निकलूं पर कीचड़ में ही डूबता चला जाता है। अनेक आख्यान हैं– आप सुनते रहते हैं। शहद–बिन्दु का भी दृष्टांत है। व्यक्ति वृक्ष की शाखा पर झूल रहा है, वृक्ष की जड़ों को हाथी उखाड़ रहा है। नीचे कूप में अजगर मुँह फाड़े बैठा है। विद्याधर ने कहा– "आओ मेरे विमान में, सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दूंगा।" जिस शाखा

पर लटक रहा है, चूहे उसे भी कुतर रहे हैं तो भी वह कहता है– "देखो वह शहद–बिन्दु तैयार हो गई है, बस टपकने ही वाली है, उसका जायका तो ले लूँ।" एक बूँद और एक बूँद और, वह लोभ में फसता ही जाता है। विषय–वासना की, मोह–राग की बूँदें आत्मा ने कितनी बार चख ली पर और अधिक की तृष्णा खत्म नहीं होती। इसीलिए कहा जाता है कि व्यक्ति को अंधकार ही पसन्द है। उससे कहा जा रहा है– प्रकाश की ओर बढ़, कहने से पैर एक बार बढ़ भी जायें पर जल्दी ही पीछे खिसक जाते हैं। अधिकांश व्यक्तियों की यही स्थिति है। कभी संत कह दें–एक सामायिक तो कर लो, ईमानदारी से सोचियेगा, सहसा एक सामायिक के लिए क्या मन तैयार होता है? हाँ भी और 'नहीं' भी, यह स्थिति है। अपनी स्वतः की प्रेरणा से जागृत होने वाले कम मिलेंगे। कहने से प्रारम्भ कर भी दी तो फिर मन अटक जाता है– अरे कब पूरी होगी? इसके बाद वापस अंधियारी गली में भटक जाना होता है। मौका है, आगे बढ़ने का, परन्तु विरल विभूतियाँ ही आगे बढ़ती हैं।

एक प्रसंग है– नमि राजर्षि के शरीर में भंयकर दाह–ज्वर था। शरीर में जलन हो रही थी। महारानियाँ चंदन घिस रहीं थीं। लेप किया जा रहा था, पर चुड़ियों की खन–खनाहट हो रही थीं। राजा को वह आवाज सहन नहीं हो रही थी। एक तो व्यक्ति को वेदना परेशान कर देती है और फिर कोई थोड़ा भी कुछ कह देता है तो वह क्षुब्ध हो जाता है, शांत अवस्था नहीं रह पाती। वह नहीं चाहता कि कोई उसके पास बैठ कर बात करे। रोगी चाहता है कोई पास न बैठे, न कोई बात पूछे पर लोग तो साता पूछने पहुँचते ही हैं, बार–बार बोलाते हैं और अपनी हमदर्दी जताते हैं। नमि राजर्षि के कानों में खन–खनाहट आ रही थी। एक समय था जब चूड़ियों की ऐसी खन–खनाहट सुनते तो मधुर वार्तालाप के बीच कहते थे– प्रिये! तुम्हारी चूड़ियों से वीणा के स्वर झंकृत हो रहे है, एक मानसिकता वह थी और बिल्कुल विपरीत मानसिकता इस समय की थी।

रामायण का एक प्रसंग है– वाल्मीकि ने उसका बहुत ही सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। जब रावण का वध हो गया तब राम ने लक्ष्मण से कहा कि अब विभीषण का राज्याभिषेक होने वाला है, हमने उससे मैत्री की है तो इस अवसर पर तुम्हारी उपस्थिति आवश्यक है। जाओ और विधिवत् विभीषण का राज्य–तिलक करो। आदेश पाते ही लक्ष्मण प्रस्थित हुए, विधिवत् राज्य–तिलक संपन्न हुआ। उसके पश्चात् विभीषण लक्ष्मण को साथ लेकर लंका के विशिष्ट स्थलों का परिभ्रमण कराने लगे। वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम सौंदर्य में लक्ष्मण डूब ही गए। उन्हें लगने लगा मानो यही स्वर्गपुरी है। परि–भ्रमण के उपरांत वे राम के चरणों में पहुँचे और कहने लगे–पूज्यवर, आपकी अनुज्ञा प्राप्त कर मैं राज्यतिलक करने पहुँचा था और उसके उपरान्त लंका के प्राकृतिक दृश्यों को देखा। वहाँ की सुषमा ने मुझपर जादू कर दिया है। आपकी आज्ञा हो तो मैं तो यहीं रुकना चाहता हूँ। राम ने वस्तुस्थिति पर चिन्तन किया और लक्ष्मण को संबोधित कर कहा– अनुज, हो सकता है लंका अलकापुरी सी हो, जिसकी प्राकृतिक सुषमा ने तुम्हें आकृष्ट कर लिया है पर भूलना नहीं चाहिए कि अयोध्या की समता लंका कभी नहीं कर सकती। लंका–लंका है और अयोध्या अयोध्या है। चाहे अयोध्या में सुषमा हो या नहीं, फिर भी उसकी मिट्‌टी को यह गौरव प्राप्त है कि वहाँ मनुष्य जन्म लेते हैं। राम के कहने का अभिप्राय अत्यंत गूढ़ था। वे कहना चाहते थे कि चाहे लंका सौंदर्य युक्त हो पर यहाँ जन्म लेने वाले राक्षस होते हैं, राक्षसी वृत्ति से युक्त होते हैं और अयोध्या की मिट्‌टी की महिमा यह है कि वहाँ धर्मनिष्ठ मानव जन्म लेते हैं। विचारें कि रहने के लिये कौन सा देश उपयुक्त है।

नमिराजर्षि को झन्कार सहन नहीं हुई, तो रानियों ने विचार किया, एक चूड़ी रखी और शेष अलग कर दीं। नमिराजर्षि को शांति से नींद आ गई। नींद खुली तो देखा आवाज नहीं आ रही थी।

पूछा– "क्या बात है, चन्दन घिसना बंद कर दिया क्या ?" "उत्तर मिला–नहीं, चंदन भी घिसा जा रहा है और लेप भी किया जा रहा है, प्रभु ! तो पहले आवाज आ रही थी अब क्यों नहीं आ रही है?" राजन् आपकी साता के लिए एक–एक चूड़ी रखकर रानियों ने शेष चूड़ियां अलग कर दी हैं। बात मामूली थी, घर में कई बार ऐसी घटनाएं घटती हैं, बहुत सी बातें कानों में पड़ती हैं और लगता है कि सचमुच संसार में क्या पड़ा है? पर दूसरे ही क्षण लगता है कि सब कुछ संसार में ही है। लक्ष्मण को भी लगा था कि लंका में ही स्वर्ग समाया है पर जब राम ने मोह का चश्मा हटाया तो हकीकत स्पष्ट हो गई। नमिराजर्षि ने देखा एक चूड़ी रह गई तो आवाज बंद हो गई। क्यों बंद हुई ? भीतर का प्रकाश प्रगट हुआ, उस दिशा में बढ़े, बोध हो गया। विचार करने लगे। चिन्तन करते–करते पूर्व जन्म का वृत्तान्त स्मरण हो आया। हृदय के निर्मल दर्पण में पिछले जन्म की स्थिति स्पष्ट देख ली। जाति–स्मरण ज्ञान से बोध पाकर जागृत हो गए। अंधकार से प्रकाश की दिशा में गतिशील हुए। आगे बढ़े। इन्द्र आ पहुंचा, परीक्षा करने के लिए। कहीं भावावेश में तो नहीं आ गए हैं ? इन्द्र ने कहा– पहले घर बनवाइये, फिर साधु बनियेगा। उत्तर मिला– जिसे मार्ग में रूकना हो उसे घर की जरूरत है, मेरा मकान तो बना बनाया है। तब कहा गया– राजन् मिथिला जल रही है, उसकी सुरक्षा करो– उत्तर मिला

'मिहिलाए डज्झमाणिए ण मे डज्झइ किंचणं।'

"मिथिला के जलने से मेरा कुछ नही जल रहा है।" कभी हम विचार कर ले कि क्या नमिराजर्षि में अनुकम्पा नही थी जो ऐसा कह दिया ? एक व्यक्ति पहाडी पर खडा है एक जमीन पर खडा है, दोनों एक दूसरे को देखते है तो दोनो परस्पर अपनी तुलना में दूसरे में बौनापन महसूस करते है। पर यदि धरती वाला व्यक्ति पहाडी पर पहुंच जाये तो उसकी दृष्टि मे अंतर आ जायेगा। नमि राजर्षि जिस

स्थान से जिस आत्मिक ज्ञान के आलोक में बोल रहे थे वहाँ पहुँचने पर आप भी यही कहेंगे– मिथिला जलने पर मेरा कुछ नहीं जल रहा है। परन्तु आत्म ज्ञान के उस स्तर को प्राप्त किये बिना आप ऐसा नहीं कह पायेंगे।

एक व्यक्ति नाव से नदी पार कर रहा था। उसने देखा परले किनारे पहुँची नाव से आदमी नीचे उतर रहे थे। उस भाई ने विचार किया नाव तो छोड़नी ही है क्यों न मैं अभी बीच में ही छोड़ दूँ। ऐसी स्थिति उसके लिए घातक होगी। यदि वह भी किनारे पहुँच जाय तो उसे भी नाव की जरूरत नहीं रहेगी। पर जिस मनःस्थिति में है उसमें कर्त्तव्य पालन करना होगा। नमिराजर्षि ने उत्तर दिया और अंधकार की गलियों में नहीं बल्कि ज्योति पथ पर बढ़ते गये। ऐसा अवसर होता है अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का, नर से नारायण बनने का। यह मनुष्य भव ही उस ज्योति को प्रकट करने का माध्यम है। उठो, जागो, सोओ मत। आप कहेंगे पर्यूषण पर्व तो चले गए, पर्व भले चले गए पर आप चाहें तो अब भी प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य–भव, आर्य–क्षेत्र, उत्तम कुल, वीतराग वाणी का संयोग मिला है, कान सुनने में तत्पर हैं और मन मनन कर रहा है तो सुनी हुई बात चिन्तन में लें, जीवन को मंगलमय दिशा की ओर ले जायें, अंधकार का परित्याग कर प्रकाश पथ पर प्रस्थित हों, आपका कल्याण ही कल्याण होगा। ○○

दि. 27.09.96



3. चैतन्य की ओर यात्रा

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पति नो हेतु ललना।
शान्त सुधा रस जल नीधि, भव सागर मा सेतु ललना॥

तीर्थंकर प्रभु महावीर ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ देशना देते हुए कहा है–

संबुज्झह किं न बुज्झह ?
'संबोही खलु पेच्च दुल्लहा'

(सूत्रकृतांग 1/2/1/1)

हे भव्यात्माओ ! बोध को प्राप्त करो। प्रश्न होता है बोध को कैसे प्राप्त करें ? बोध प्राप्ति का साधन क्या है ? संसार में रहते हुए सांसारिक कर्त्तव्यों का भी निर्वाह करना होता है फिर बोध को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? उत्तर होगा कि संसार में जो भी चीज दुर्लभ होती है उसकी प्राप्ति के लिए पुरूषार्थ भी करना पड़ता है। जीवन में संबोधि की प्राप्ति दुर्लभ है। संबोधि क्या है ? सम्यक् प्रकार का बोध होना संबोधि है। बोध से तात्पर्य है ज्ञान–रूप व्यापार। वह ज्ञान–रूप व्यापार सम्यक् रूप में परिणत हो यह भी आवश्यक है। ज्ञान किताबों का हो सकता है, यह भी हो सकता है कि व्यक्ति मस्तिष्क में लायब्रेरी भर ले ज्ञानावरणीय के क्षयोपशाय से, लेकिन वह संबोधि नही होगी। संबोधि के लिए आवश्यक है मोहनीय कर्मों का क्षय, उपशम, क्षयोपशय। मोहनीय कर्मो का क्षय, उपशय या क्षयोपशय नही तो ज्ञान अज्ञान–रूप ही रहेगा। सम्यक् बोध रूप नहीं बन पायेगा। उसे ग्रहण करने के लिए भीतरी अध्यवसाय और मन की परिणति अपेक्षित है। मन की दो अवस्थाए है– (१) विक्षेप रूप (२) चैतन्य रूप

एक अवस्था यह है कि हम अंधकार से ज्योति की ओर बढ़े।

3. चैतन्य की ओर यात्रा

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पति नो हेतु ललना।
शान्त सुधा रस जल नीधि, भव सागर मा सेतु ललना।।

तीर्थंकर प्रभु महावीर ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ देशना देते हुए कहा है–

संबुज्झह किं न बुज्झह ?
'संबोही खलु पेच्च दुल्लहा'

(सूत्रकृतांग 1/2/1/1)

हे भव्यात्माओ ! बोध को प्राप्त करो। प्रश्न होता है बोध को कैसे प्राप्त करें ? बोध प्राप्ति का साधन क्या है ? संसार में रहते हुए सांसारिक कर्त्तव्यों का भी निर्वाह करना होता है फिर बोध को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? उत्तर होगा कि संसार में जो भी चीज दुर्लभ होती है उसकी प्राप्ति के लिए पुरूषार्थ भी करना पड़ता है। जीवन में संबोधि की प्राप्ति दुर्लभ है। संबोधि क्या है ? सम्यक् प्रकार का बोध होना संबोधि है। बोध से तात्पर्य है ज्ञान–रूप व्यापार। वह ज्ञान–रूप व्यापार सम्यक् रूप में परिणत हो यह भी आवश्यक है। ज्ञान किताबों का हो सकता है, यह भी हो सकता है कि व्यक्ति मस्तिष्क में लायब्रेरी भर ले ज्ञानावरणीय के क्षयोपशय से, लेकिन वह संबोधि नहीं होगी। संबोधि के लिए आवश्यक है मोहनीय कर्मों का क्षय, उपशय, क्षयोपशय। मोहनीय कर्मों का क्षय, उपशय या क्षयोपशय नहीं तो ज्ञान अज्ञान–रूप ही रहेगा। सम्यक् बोध रूप नहीं बन पायेगा। उसे ग्रहण करने के लिए भीतरी अध्यवसाय और मन की परिणति अपेक्षित है। मन की दो अवस्थाएं हैं– (१) विक्षेप रूप (२) चैतन्य रूप

एक अवस्था यह है कि हम अंधकार से ज्योति की ओर बढ़ें।

स्थान से जिस आत्मिक ज्ञान के आलोक में बोल रहे थे वहाँ पहुँचने पर आप भी यही कहेंगे– मिथिला जलने पर मेरा कुछ नहीं जल रहा है। परन्तु आत्म ज्ञान के उस स्तर को प्राप्त किये बिना आप ऐसा नहीं कह पायेंगे।

एक व्यक्ति नाव से नदी पार कर रहा था। उसने देखा परले किनारे पहुँची नाव से आदमी नीचे उतर रहे थे। उस भाई ने विचार किया नाव तो छोड़नी ही है क्यों न मैं अभी बीच में ही छोड़ दूँ। ऐसी स्थिति उसके लिए घातक होगी। यदि वह भी किनारे पहुँच जाय तो उसे भी नाव की जरूरत नहीं रहेगी। पर जिस मनःस्थिति में है उसमें कर्तव्य पालन करना होगा। नमिराजर्षि ने उत्तर दिया और अंधकार की गलियों में नहीं बल्कि ज्योति पथ पर बढ़ते गये। ऐसा अवसर होता है अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का, नर से नारायण बनने का। यह मनुष्य भव ही उस ज्योति को प्रकट करने का माध्यम है। उठो, जागो, सोओ मत। आप कहेंगे पर्यूषण पर्व तो चले गए, पर्व भले चले गए पर आप चाहें तो अब भी प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य–भव, आर्य–क्षेत्र, उत्तम कुल, वीतराग वाणी का संयोग मिला है, कान सुनने में तत्पर हैं और मन मनन कर रहा है तो सुनी हुई बात चिन्तन में लें, जीवन को मंगलमय दिशा की ओर ले जायें, अंधकार का परित्याग कर प्रकाश पथ पर प्रस्थित हों, आपका कल्याण ही कल्याण होगा। **OO**

दि. 27.09.96



स्थान से जिस आत्मिक ज्ञान के आलोक में बोल रहे थे वहाँ पहुँचने पर आप भी यही कहेंगे– मिथिला जलने पर मेरा कुछ नहीं जल रहा है। परन्तु आत्म ज्ञान के उस स्तर को प्राप्त किये बिना आप ऐसा नहीं कह पायेंगे।

एक व्यक्ति नाव से नदी पार कर रहा था। उसने देखा परले किनारे पहुँची नाव से आदमी नीचे उतर रहे थे। उस भाई ने विचार किया नाव तो छोड़नी ही है क्यों न मैं अभी बीच में ही छोड़ दूँ। ऐसी स्थिति उसके लिए घातक होगी। यदि वह भी किनारे पहुँच जाय तो उसे भी नाव की जरूरत नहीं रहेगी। पर जिस मनःस्थिति में है उसमें कर्त्तव्य पालन करना होगा। नमिराजर्षि ने उत्तर दिया और अंधकार की गलियों में नहीं बल्कि ज्योति पथ पर बढ़ते गये। ऐसा अवसर होता है अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का, नर से नारायण बनने का। यह मनुष्य भव ही उस ज्योति को प्रकट करने का माध्यम है। उठो, जागो, सोओ मत। आप कहेंगे पर्यूषण पर्व तो चले गए, पर्व भले चले गए पर आप चाहें तो अब भी प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य–भव, आर्य–क्षेत्र, उत्तम कुल, वीतराग वाणी का संयोग मिला है, कान सुनने में तत्पर हैं और मन मनन कर रहा है तो सुनी हुई बात चिन्तन में लें, जीवन को मंगलमय दिशा की ओर ले जायें, अंधकार का परित्याग कर प्रकाश पथ पर प्रस्थित हों, आपका कल्याण ही कल्याण होगा। **oo**

दि. 27.09.96



3. चैतन्य की ओर यात्रा

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पति नो हेतु ललना।
शान्त सुधा रस जल नीधि, भव सागर मा सेतु ललना।।

तीर्थंकर प्रभु महावीर ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ देशना देते हुए कहा है–

संबुज्झह किं न बुज्झह ?
'संबोही खलु पेच्च दुल्लहा'

(सूत्रकृतांग 1/2/1/1)

हे भव्यात्माओ ! बोध को प्राप्त करो। प्रश्न होता है बोध को कैसे प्राप्त करें ? बोध प्राप्ति का साधन क्या है ? संसार में रहते हुए सांसारिक कर्त्तव्यों का भी निर्वाह करना होता है फिर बोध को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? उत्तर होगा कि संसार में जो भी चीज दुर्लभ होती है उसकी प्राप्ति के लिए पुरूषार्थ भी करना पड़ता है। जीवन में संबोधि की प्राप्ति दुर्लभ है। संबोधि क्या है ? सम्यक् प्रकार का बोध होना संबोधि है। बोध से तात्पर्य है ज्ञान–रूप व्यापार। वह ज्ञान–रूप व्यापार सम्यक् रूप में परिणत हो यह भी आवश्यक है। ज्ञान किताबों का हो सकता है, यह भी हो सकता है कि व्यक्ति मस्तिष्क में लायब्रेरी भर ले ज्ञानावरणीय के क्षयोपशय से, लेकिन वह संबोधि नहीं होगी। संबोधि के लिए आवश्यक है मोहनीय कर्मों का क्षय, उपशय, क्षयोपशय। मोहनीय कर्मों का क्षय, उपशय या क्षयोपशय नहीं तो ज्ञान अज्ञान–रूप ही रहेगा। सम्यक् बोध रूप नहीं बन पायेगा। उसे ग्रहण करने के लिए भीतरी अध्यवसाय और मन की परिणति अपेक्षित है। मन की दो अवस्थाएं हैं– (१) विक्षेप रूप (२) चैतन्य रूप

एक अवस्था यह है कि हम अंधकार से ज्योति की ओर बढ़ें।

दूसरी अवस्था है प्रकाश से अंधकार की ओर तीसरी प्रकाश से प्रकाश की ओर गमन होना। चौथी अवस्था है अंधकार से अंधकार की ओर गमन होना। चैतन्य अवस्था है अंधकार से प्रकाश की ओर प्रयाण। लेकिन इस अवस्था को व्यक्ति प्राप्त कैसे करे ? मानसिक धरातल पर अनेक प्रकार की अवस्थाओं का चित्रण होता है। व्यक्ति जब विक्षेप में जाता है तब उसका मन बोझिल तथा भावधारा एवं अध्यवसाय कलुषित होते हैं। वहाँ चैतन्य या प्रकाश की दिशा में गतिशीलता नहीं हो सकती।

सनत् कुमार चक्रवर्ती के दर्शनार्थ देव ने ब्राह्मण का रूप धारण किया। वह पहुँचा और जब उसे रोके जाने की स्थिति बनी तो उसने कहा— मै प्यास से घबरा रहा हूँ किन्तु दर्शन किए बिना पानी नहीं पीऊगां। अपनी दृढ़ता के कारण उसने पूर्व की अवस्था में रहे हुए सनत् कुमार चक्रवर्ती के दर्शन किये। चक्रवर्ती ने कहा— विप्रदेव ! अभी क्या देख रहे हो, जिस समय मैं राज सभा में पहूँचु उस समय तुम वहाँ मुझे देखना। ब्राह्मण राज सभा में पहुँचा और कहने लगा— "सम्राट मैंने जो रूप सुबह देखा था अब आपका वह सौंदर्य नहीं रहा। क्या कारण था ? विप्र ने बताया आपके शरीर में 16 महारोग उत्पन्न हो गए हैं। रोग ही के नाम से व्यक्ति घबराता है और यदि कह दिया जाय कि महारोग हैं तब तो चिन्तनीय स्थिति बन जाती है।

सबसे पहला महारोग तो भीतर ही पैदा होता है। सुबह जब दर्शन किये थे, तब चक्रवर्ती सात्विक अवस्था में था पर थोडी ही देर में सात्विकता समाप्त हो गई, मन में अहं का पुट आ गया। प्रभु महावीर ने जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य इन आठ मदों का निषेध किया है। ये मद जब हमारी भावधारा से संयुक्त होते हैं तब विक्षेप दशा बनती है जिसके कारण चैतन्य की दशा मे गति नहीं हो पाती। विक्षेप दशा से आगे विक्षिप्त अवस्था बनती है। विक्षेप अवस्था अनेक प्रकार से होती है। मानसिक संतुलन व्यवस्थित नहीं

तो भी विक्षिप्त अवस्था बनती है। उस अवस्था में मनोचिकित्सक उपचार करना भी चाहे पर जब तक भावधारा में कालुष्य या कीटाणु है तब तक मन और मानसिक संतुलन व्यवस्थित नहीं बन सकेगा। उसे व्यवस्थित करने के लिए भावधारा की शुद्धि आवश्यक है। शुद्धि हुई तो चैतन्य दशा उपलब्ध हो जायेगी।

एक माँजी ने सुना कि कपड़े की मिल में आग लग गई है। उसने अपनी लकड़ी संभाली और तेज कदमों से उस दिशा में जाने लगी। मार्ग में युवकों ने देखा आज माँजी तीव्र गति से जा रही है। पूछा– माँजी कहाँ जा रही हो ? उसने कहा– कपड़े की मिल में आग लग गई है। तो माँजी ! क्या तुम बुझाने जा रही हो ? बेटे मुझमें कहाँ शक्ति है कि उसे बुझा सकूँ, मेरा लड़का उस मिल में काम करता है, कहीं वह भी आग की उस चपेट में न आ गया हो , उसकी सुध लेने जा रही हूँ। युवक भी माजी के साथ हो गए। वहाँ देखा बहुत नुकसान हो चुका था, जो कर्मचारी विशेष आहत हुए थे उन्हें अस्पताल पहुँचाया जा चुका था। मॉजी को अपना पुत्र रमन वहाँ नहीं मिला तो वह भी अस्पताल में पहुँची। वहाँ आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से जानकारी मिलती कि किसी का कोई अंग जल गया है, किसी का कोई अंग। दर्द से वे कराह रहे थे। दर्दनाक दृश्य था। माँजी का दिल बैठने लगा। क्या रमन की भी यही दशा हुई होगी ? खोज भी की पर कुछ पता नहीं चला। वृद्धा सोचने लगी– कहीं वह आग में ही तो नहीं जल गया। व्यक्ति के भीतर अशुभ कल्पना जल्दी उभरती है। माँजी ही नहीं सामान्य व्यपित भी गलत आशंका जल्दी कर लेता है। कहीं कोई दुर्घटना, एक्सीडेंट हो जाए और उस दिशा मे कोई पारिवारिक सदस्य गया हुआ हो तो सहज ही भाव बनते हैं कि उसे कुछ हो न गया हो। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। युवकों ने कहा– मॉजी अधीर मत बनो हम तुम्हारे पुत्र को खोज निकालेंगे। उन्होंने खोज की तो एक पलंग पर रमन मिल गया। उसकी दोनों आँखे जा

चुकी थी, सीने का भाग जल गया था। वह बेहोशी की अवस्था में था। माँजी को वहां लाया गया। नर्स उपचार में लगी थी। मॉजी ने देखा, उनका मन अनेक दुश्चिंताओं से ग्रस्त था। देखते ही वह तो पछाड़ खाकर गिर पड़ी। उनका मातृत्व भाव पुत्र के प्रति उमड़ आया था , उन्हें होश मे लाया गया , नर्स ने माता के भावों को देखा तो सोचा यदि इनसे कह दिया जाय कि ज्यादा जल गया है तो कुछ अन्यथा भी घटित हो सकता है। अतः उसने कहा– "ज्यादा तकलीफ नहीं है। थोड़ी देर मे होश आ जायेगा , थोड़ी सी सीने की चमड़ी जली है, आँखें जा चुकी है। सीने पर चमड़ी लगाने की जरूरत पड़ेगी। माँ ने कहा– मेरी चमड़ी ले लो। नर्स ने कहा– तुम्हें तकलीफ होगी। यह क्या कह रही हो बेटी , मेरा पुत्र ठीक हो जाये, तो मैं शरीर की चमड़ी देने के लिए भी तैयार हूँ। चमड़ी का उपयोग किया गया। माँजी ने कहा– मैंने तो दुनिया बहुत देख ली अब कोई ख्वाईश नहीं रही। मेरी आँखें भी यदि काम आती हो तो मेरे पुत्र को ज्योति दे दो। माता का पुत्र के प्रति कितना प्रबल वात्सल्य भाव होता है। एक पुत्र के बजाय यदि प्राणीमात्र के लिए ऐसे भाव बन जाएं तो धरा पर स्वर्ग उतर आये। प्रभु ने कहा है–

'सव्वभूयप्प भूयस्य, सम्मं भूयाइ पासओ।'

अर्थात् वह सभी को अपनी आत्मा के समान देखने लगता है। पर यह तब होता है जब मनुष्य प्रकाश की दिशा में प्रस्थित होता है। वृद्धा हर तरह से अपने पुत्र को ठीक देखना चाहती थी। नर्स ने भी माता की स्थिति देखकर तन्मयता से सेवा की। पुत्र ठीक हो गया, परंतु ऑखें नहीं रही थी। माँ ने विचार किया– पुत्र तुमने बहुत सेवा की है मैं तुम्हारा उपकार कैसे चुकाऊँ ? रमन ने भी विचार विमर्श किया, तुम्हारी पगार में से सिर्फ पांच रूपये बचे हैं, ये पांच रूपये दिये जाएं तो ओछी बात होगी, पर घर में कुछ नहीं। वृद्धा आर्थिक दृष्टि से कमजोर थी पर हृदय में अमीरी भरी थी। पांच रूपये क्या

दूं कोई भेंट दूं। पर लाऊं कहां से ? मन मारकर पांच रूपये देने लगी। नर्स ने माँ के भावों को पहचान लिया, उसका हृदय द्रवित हो गया, आँसू बहाते हुए कहने लगी– मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। आपने मुझे पुत्री कहा है तो बहन का भाई के प्रति जो कर्त्तव्य होता है मैंने उसी भावना से सेवा की है, अपना फर्ज निभाया है। माता–पुत्र घर आ गए।

गरीबी का ही तो सारा खेल था। रमन जब बाल्यावस्था में था, माँ चक्की पीसकर गुजारा करती थी। रमन बड़ा हुआ, नौकरी लग गई तो उसने माँ से कहा– माँ अब तुम आराम करो मैं कमाकर लाऊँगा, उससे जीवन बसर करना। माँ की चक्की छूट गई । आज फिर माँ विचार कर रही थी। अच्छा हुआ मैंने रमन का विवाह नहीं किया था, अभी तक तो संबंध ही हुआ था। यदि शादी हो गई होती तो उस बेचारी की क्या दशा होती। मैं उसके भरण पोषण का जुगाड़ कैसे करती ? माँ तो इन्हीं विचारों में डूबी थी कि अनायास घर में एक बहन ने प्रवेश किया। माँ के चरण स्पर्श किए तो मां ने पूछा– बेटी तू कौन है ? आपकी बहू। माँ ने गौर से देखा जिसके साथ रमन की बात तय हुई थी यह वही थी। लेकिन बेटी। यह नहीं हो सकता, मैं तुम्हारे जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकती, तुम्हारे जीवन को झुलसा नहीं सकती। मैं भले ही अंधकार में हूँ पर दूसरे को अंधकार में ढकेलना नहीं चाहती। बहू कहने लगी– मैं आ चुकी हूं। "नहीं बिटिया यहां नहीं, अब तेरे नसीब जहां ले जायें वहां पहुँच जा।" माँ मैं तो पहुँच चुकी हूँ अब मैं सदा के लिए आ गई हूँ। कहते हुए उसकी रूलाई फूट पड़ी। बेटी तू कैसे आ गई। माँ मुझे जानकारी मिली की दुर्घटना हो गई है। माता–पिता ने कहा जिसके साथ इसका संबध किया है वह तो जल गया है, अब दूसरे युवक की तलाश करनी होगी। मेरी अंतरात्मा कहने लगी मुझे दुनिया के आकर्षण में नहीं जीना है, यह आकर्षण तो मन को विक्षेप दशा की

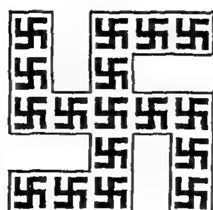
ओर ले जाने वाला है, चैतन्य की राह में नहीं। मुझे चाहिए चैतन्य की राह, उसी चिंतन से मेरे भीतर एक अद्भुत शक्ति का जागरण हुआ। मैंने पिताजी से कहा– यदि दुर्घटना नहीं होती तो आप उनके साथ मेरा विवाह करते या नहीं ? पिताजी ने कहा– तब तो अवश्य करता। मैंने कहा तो फिर कुलीन कन्या एक बार जिसे अपना हृदय समर्पित कर देती है फिर उस स्थान पर दूसरे को स्थापित नहीं कर सकती। पिताज़ी से कहकर मैं आई हूँ और आप प्रमाण देखना चाहें तो बाहर पधारें। माँ ने बाहर जाकर देखा– रमन खाट पर सो रहा था उसके गले में वरमाला पड़ी थी और एक माला उसके हाथों में पड़ी थी। रमण जागा, उसने भी कहा– नहीं, नहीं मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता। तुम भी चैन से रहो मुझे भी रहने दो, मुझे यह संबंध स्वीकार नहीं है। घटना लम्बी है दोनों के बीच काफी संवाद हुआ। आखिर बहन ने कहा मैंने एक बार माला डाल दी अब कुछ नहीं हो सकता है और उसने रमण के हाथों से माला गले में पहन ली। शादी हो गई। वह सास और पति की सेवा में संलग्न हो गई। वह पढ़ी लिखी थी। कुछ समय बाद वह करोड़पति सेठ जिसकी मिल में आग लग गई थी एक नर्स को साथ लेकर माँजी की झोपड़ी में पहुँचा उसने कहा– मुझे दुःख है रमन की आँखें चली गई, सीने की चमड़ी भी जल गई। मैं आँखें तो नहीं लौटा सकता पर ये दस हजार रूपये मैं आपके सहयोग के लिए कम्पनी की ओर से प्रस्तुत करता हूँ। रमन की पत्नी भी बाहर आई उसने सेठजी को नमस्कार किया और कहा– "ये बात सही है कि इनकी आँखें चली गई पर मेरी आँखें मौजूद हैं और उनसे घर का कार्य अच्छी तरह से चल जायेगा। आपकी कम्पनी में अनेक ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनकी हालत इनसे भी अधिक बुरी है उन्हें विकटतर समस्याओं से जूझना पड़ रहा होगा, अतएव ये रूपये उन्हें दे देवें ताकि उनका जीवन व्यवस्थित हो सके। ऐसी विकट परिस्थितियों में भी अपना मानसिक संतुलन बनाये रखकर घर के दायित्वों का निर्वाह विरले ही कर पाते हैं।"

ऐसे कर्त्तव्यनिष्ठ लोगों में छत्तीसगढ़ की महिलारत्न श्रीमती रत्नादेवी ओस्तवाल का नाम भी सम्मिलित किया जा सकता है। जब उन्होंने सुना कि एक परिवार के पांच–सात बच्चे अनाथ हो गये हैं उनकी माता का निधन हो गया। तब उन्होंने यह समझ लिया कि यदि ऐसी स्थिति में बच्चों को सहयोग न मिला तो उनका भविष्य सुरक्षित नहीं रह पायेगा। अतः उन्होंने निर्णय किया और उन बच्चों की परवरिश का दायित्व अपने हाथों में ले लिया तथा अनुशासन, वात्सल्य व संस्कारों से उनके जीवन को सजाया। परंतु ऐसी बहनें, महिलाएं भी विरल ही होती हैं, जिनका जीवन प्रकाशमान होता है। व्यक्ति सोचता है कि वैवाहिक संबंध सिर्फ मोह का रूप है, हो सकता है मोह रूप भी हों, लेकिन जिन्होंने अपना संबंध प्रकाश से जोड़ा है वे उस संबंध को मोह का नहीं कर्त्तव्य का संबंध मानते हैं। रमन से जिस बहन ने संबंध जोड़ा था उसके हृदय में मोह प्रधान नहीं था। दुनिया की निगाहों में भले ही उसका विवाह नहीं हुआ होगा पर उसने परिवार की सेवा के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। नर्स भी विचार करने लगी, किसे उत्तम कहूँ– वृद्धा माता को, पुत्र को या ऐसी बहन को ?

प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कर्त्तव्य भाव जागृत रहे, प्रकाश, चैतन्य की दिशा में पैर आगे बढ़ते रहें। जैसी चेतना हमारे भीतर जागृत हो यह प्रयास करना चाहिए। हम कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए प्रकाश पथ पर गति कर पायें इस हेतु सजग रहना चाहिए। अमिय देशना का रसायन पाकर अंधकार से प्रकाश पथ पर बढ़ना कठिन नहीं है। हम ध्यान रखें कि कहीं हमारे सामने पड़ोसी भूखा तो नहीं है ? अपाहिज की सेवा के लिए अनुकम्पा, दया, करूणा का झरना बहा या नहीं ? यदि हकीकत में करूणा श्रोत फूट पड़ता है तो हम प्रकाश की दिशा प्राप्त कर लेंगे। प्रभु की देशना का अपने बुझे दीप से स्पर्श कराइये। ज्ञान की बातें बहुत सुनते रहते हैं, सुनकर ही

चुप नहीं रह जाना चाहिए। अपितु उन्हें आचरण का अमली रूप भी देना चाहिए। जीवन में अनोखे मोड़ आते हैं यदि मन की विक्षेप अवस्था बन गई तो गिर पड़ेंगे लेकिन चैतन्य की दिशा में मुड़ गए तो उत्थान भी कर सकते हैं। विक्षेप से चैतन्य की ओर बढ़ें तो अंधकार छंटता चला जाएगा फिर प्रकाश की ओर प्रयाण होगा। जब हमारे भीतर प्रकाश प्रकट हो जाएगा तब उसमें जो हमारी गति, स्थिति एवं अवस्था बनेगी वह अद्भुत तथा अनिर्वचनीय होगी, वह सिर्फ अनुभूति का विषय होगी। ००

दि. 28.09.96



4. चरे पयाइं परिसंकमाणो

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पति नो हेतु ललना।
शान्त सुधा रस जल नीधि, भव सागर मा सेतु ललना।।

साधना का क्षेत्र अत्यंत गहरा है, इसकी गहराई को 'अतल' कहा गया है। अतल अर्थात् जिसका तल, छोर या अंत नहीं है। साधक साधना की वीथियों में बढ़ता है कुछ पाने और कुछ खोने के लिए। खोना भी उसकी प्राप्ति में आवश्यक है, क्योंकि नहीं खोने से उसे जो प्राप्त होने वाला है वह भी प्राप्त नहीं हो सकता है। यह चिरंतर सत्य है कि जिसे बनाया जाता है या जो बनता है, वह बिगड़ता भी है, जिसका निर्माण होता है उसका ध्वंस भी होता है, जहां जन्म है वहां मृत्यु भी अवश्यंभावी है। जन्म कौन लेता है, निर्माण किसका किया जाता है, हम जन्म के साथ किसका संयोजन करते हैं और मृत्यु के साथ किसका संबंध जोड़ते हैं। ये सब गंभीर विषय हैं और भूल भूलैया की स्थिति बना देते हैं, जिस कारण हम भटक जाते हैं इसीलिये प्रभु ने कहा है–

'चरे पयाइं परिसंकमाणो'

साधक से कहा गया है तू शंकित होता हुआ चल। हर एक कदम तुझे सोच समझकर रखना है। परंतु दूसरी ओर कहा गया है– 'संशयात्मा विनश्यति' संशयशील आत्मा विनाश को प्राप्त होती है। यदि शंकायुक्त होकर चलेगा तो जीवन दुरूह हो जायेगा, हर कदम पर शंका की तो साधना–आराधना कैसे करेगा ? शंकाशील अवस्था व्यक्ति को आगे बढ़ने नहीं देती, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। फिर यदि शंका रही तो प्रभु का यह उपदेश/आदेश/सुझाव व परामर्श साधकों के लिए लाभदायी कैसे हो सकता है ? प्रभु ने स्पष्ट कहा है–

'जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।'

कितना गहरा सूत्र है। प्रभु ने निर्देश दिया है– 'जं किंचि' जो कुछ भी दुनिया में तुम्हारे सामने आ रहा है, वह प्रत्येक पदार्थ जो दृष्टिगोचर हो रहा है, जिसके प्रति आकर्षण या लगाव है जो 'पास' अर्थात् पाश अर्थात् बंधन का काम करने वाला है, उसका आकर्षण तुम्हें मुक्त नहीं होने देता बल्कि बांधने का काम करता है। इसलिए साधना वीथी पर निर्लेप अवस्था में चलो। यदि कहीं भी इन पदार्थों के प्रति आकर्षण बन गया तो पांव रूक जायेंगे। आगे बढ़ नहीं पायेगा। वेदों में कहा गया है– "चरैवति चरैवति" विराम न लो, चलते चलो। कहां तक चलता रहे यह भी पहले नहीं सोचना। बस चलते चलो, बढ़ते चलो। आकर्षण में नहीं पड़ना है। ट्रेन, बस या गाड़ी में बैठने वाला यात्री यात्रा कर रहा है। खिड़की से वह बाहर के दृश्य भी देख रहा है। वे दृश्य उसे अच्छे भी लगते हैं पर वह उनसे जुड़ता नहीं है। यदि जुड़ गया तो गाड़ी आगे नहीं बढ़ पायेगी। उसे वहां रूकना होगा। यदि एक बार भौतिक पदार्थों के आकर्षण में पड़ गया तो वह आकर्षण साधना की गति को रोक देगा। पकड़ में आ जाओगे तो फिर साधना की निष्पत्ति नहीं होगी, बाधा आ जायेगी। साधना के क्षेत्र में चलते–चलते कई बार साधक को लगता है कि बहुत कुछ पा चुका हूँ गहराई तक पहुँच गया हूँ और आगे साधना की आवश्यकता नहीं है। हृदय का दीप प्रज्वलित हो गया है। ऐसी अनेक अवस्थाएं उसके सम्मुख उत्पन्न होती हैं। इसीलिए प्रभु ने कहा है– "सावधान ! हम भूल भूलैया में न पड़ जाएं।" जंगल की पगडंडी पर चलने वाले को सावधानी रखनी होती है। यदि चलते–चलते वह मूल पगडंडी को छोड़कर पशुओं द्वारा बनाई गई पगडंडी पर चला जाये तो वह भटक जायेगा, सही लक्ष्य तक नहीं पहुँच पायेगा। यह साधना का पथ भी बीहड़ एवं कंटकाकीर्ण है, झाड़ियां हैं, ऐसी स्पष्ट पगडंडियां भी हैं कि साधक को लगे कि वह पूर्ण अवस्था में आ चुका है। पर इस पूर्ण अवस्था की पहचान हम कर पायें यह बहुत कठिन है। हमारे भीतर का दीप बहुत समय तक बुझा पड़ा रहता है, कभी–कभी ही

प्रज्वलित होता है पर यदि हम गफलत में रहें, सावधानी नहीं रखें तो यह दीप बुझ भी सकता है। उस दीप की ज्योति के माध्यम से देखने की कोशिश करें कि यथार्थ में दीप जला है या हमें भ्रांति हो रही है।

यहां 'मैं' शब्द पर भी विचार करें 'मैं' शब्द दो अर्थों को ध्वनित करता है। एक 'मैं' आत्मा के लिए, चैतन्य देव के लिए है, दूसरा 'मैं' अहं के लिये प्रयुक्त होता है। इन दोनों 'मैं' के बीच एक ज्योति भी है। 'अहं' भी एक रूप में चेतना की ज्योति है। आप कहेंगे 'अहं' ज्योति कैसे है ? इसे इस प्रकार समझें– हमारा जीवन दो भागों में विभक्त है। एक अवस्था 'अहं' की है इसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को निखारने में लगता है, व्यक्तित्व की टोह में लगता है पर इस समय यथार्थ में यदि चैतन्य दीप जल जाये तो फिर वह अपने अस्तित्व को देखने के लिए उद्यत होगा। वह यथार्थ में चैतन्य की ज्योति होगी। आत्मा की ज्योति में बनावट नहीं होती पर अहं में बनावट होती है, सजावट होती है। अहंकार सदैव व्यक्तित्व को निखारने में लगेगा, पर चेतना से अस्तित्व को देखने में वह अनुभव में देखेगा कि मेरे अस्तित्व का कैसा रूप है, कैसा स्वरूप है ?

एक संत वोकोजु एक बार एक प्रतिमा पर पुष्प समर्पित कर मंदिर से बाहर निकले। संत ख्याति प्राप्त थे। जनता उनके दर्शनों के लिए आतुर बनी हुई थी। जैसे ही महात्मा बुद्ध की प्रतिमा पर पुष्प अर्पित कर संत बाहर आये भीड़ ने घेर लिया और कहने लगी– "हमें उपदेश दीजिये, ज्ञान दीजिये, आत्म–बोध कराइये।" संत कहने लगे– सुनना चाहते हो ? सभी ने कहा– हां, सुनना चाहते हैं। संत ने कहा– अच्छा चलो, किसी योग्य स्थल पर। वे सभी लोग उपयुक्त स्थान पर पहुँचे। उपयुक्त स्थान पर पहुंच कर संत ने कहा– मैं आज प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि बुद्ध कभी हुए नहीं हैं और यदि कोई मानता है कि बुद्ध हुए हैं तो यह झूठ है।" श्रोता विचार में पड़ गये

यह क्या बात है ? यदि बुद्ध नहीं हैं तो जो मानते हैं कि बुद्ध हैं यह झूठ हुआ। यह संत आज अभी ही प्रतिमा पर पुष्प अर्पित करके आए हैं और कह रहे हैं ? संत ने कहा– बात इतनी ही नहीं है, मैं पुष्प चढ़ाकर आया हूं और संध्या को फिर चढ़ाऊंगा पर फिर भी मैं कह रहा हूं कि मेरा कभी जनम ही नहीं हुआ और मैं मरूंगा भी नहीं।

बात गंभीर है, समझने की है जरा सोचिये। जनम किसका होता है ? जो जन्मता है वह मरता भी है, जो बनता है वह बिगड़ता भी है, जिसका निर्माण होता है उसका ध्वंस भी होता है। शरीर का जन्म होता है, मन का जन्म या निर्माण होता है। हमारे भीतर अहं, जिसे आज की भाषा में 'ईगो' भी कहते हैं, उसका भी जन्म होता है। यह 'ईगो' आपके व्यक्तित्व को निखारने की कोशिश करता है। वह निखर पाये या नहीं, यह अलग बात है। उसी व्यक्तित्व पर चोट लगी, मान पर चोट लगी तो कहेंगे कौन है चोट करने वाला ? व्यक्तित्व पर चोट हुई तो आत्मा सामने नहीं आयेगी। जिसकी चेतना का प्रत्यय चेतना के प्रति स्वीकृति है, वह सोचता है व्यक्तित्व कुछ है ही नही, वह चला भी गया तो कुछ नही गया। आप जानते हैं कि आत्मा का जन्म मरण नहीं होता। ये अवस्थाएँ तो शरीर के साथ संयोजित है, शरीर के साथ ही नाम आदि सारे लिबाज में जुडते है। शरीर यंत्र यदि काम करना बंद कर दे तो हम जान लेते हैं वहाँ चेतना का स्थान शेष नही रहा। मरता शरीर है, चैतन्य नहीं। चैतन्य तो अखण्ड है, उसके टुकड़े नहीं होते है। गीता में कहा है–

'नैनं छिन्दंति शस्त्राणि, नैन दहति पावक:'

शस्त्र उसे छेद नहीं सकते, अग्नि उसे जला नहीं सकती , हवा उसे सुखा नहीं सकती, पानी उसे गला नहीं सकता। जलना, गलना आदि तो पुद्गल के गुण हैं। जब तक शरीर साथ में है वह जलता हैं। इस प्रकार शरीर के साथ अर्थात् पौद्गलिक पर्याय के साथ यह स्थिति हैं पर आत्मा की यह स्थिति नहीं है। संत वोकोजु

की बात सुनकर जब व्यक्ति रवाना होने लगे तब संत ने कहा "जा रहे हो तो कोई बात नहीं , पर एक बात और सुन लो।" भक्तों के पैर ठिठक गए , वोकोजु कहने लगे– "तुम लोग भी जन्मे नहीं हो और मरोगे भी नहीं।" जरा सोचें, कोई हमारी अमरता का पट्टा लिख दे तो हम कितने निश्चिंत हो जायेंगे। मृत्यु का भय ही व्यक्ति को सताता है।

सात महाभय में एक मृत्यु का भय भी है। और भयों से तो फिर भी निपटने की कोशिश की जाती है पर इस भय पर हमारा जोर नहीं। कोई चाहे, अरबों– खरबों रूपये खर्च कर इस मृत्यु को टाल दूं तो क्या मृत्यु टल पायेगी ? तीर्थंकर जो अनन्त शक्ति सम्पंन होते हैं जिनकी शक्ति को उपमित करते हुए बताया जाता है कि यदि वे लोक को गेंद रूप मानकर उसे एक टल्ला भी लगायें तो यह गेंद अलोक में कहां जाकर गिरेगी, मालूम नहीं पड़ेगा। पर वे तीर्थंकर भी आयु का क्षण बढ़ाने में समर्थ नहीं। जितना आयुबलप्राण का कार्य है, उतने दिन ही जीवन रहेगा, फिर मरण अवश्यंभावी है क्योंकि यह अनुबंध के साथ प्राप्त होता है। आप जानते हैं कि व्यापार में जिस प्रकार अनुबंध होता है उसी प्रकार भुगतान किया जाता है। इसी प्रकार इस शरीर के साथ आयु, पंचेन्द्रिय जाति आदि अवस्थाएं अनुबंधित होती हैं। कितने समय तक इसमें रहना है यह हम अनुबंध कर लाये हैं। संभव है, व्यापार में छूट मिल भी जाए पर यहां छूट नहीं मिलेगी। गति आयु, पंचेन्द्रिय जाति स्थिति जैसा अनुबंध है वैसी ही प्राप्ति होगी। यदि अनुबंध नहीं हुआ तो वहीं शरीर छोड़ने का प्रसंग बन जायेगा, आत्मा की सिद्दि हो जावेगी।

संत ने जो बात कही वह श्रोताओं को समझ में नही आयी, आनी भी नहीं थी। जब तक व्यक्ति उस अवस्था में जी नहीं लेता तब तक उससे संबंधित बात समझ में नहीं आती, आवरण से आवृत्त यह आत्मा न जाने कैसे कैसे कृत्य करती है। वह कैसे जागृत हो ? उत्तर

है यदि यह आश्वासन मिल जाये कि तुम्हारी मृत्यु नहीं होने वाली है। परन्तु यह तभी संभव होगा जब हम अपने अस्तित्व को सही रूप में जान पायें कि मैं भूत में था, वर्तमान में हूँ और भविष्य में भी रहूँगा फिर न कभी मरण होगा न जन्म होगा। यह अस्तित्व का धरातल होगा , जब इस अस्तित्व की जानकारी होगी तभी व्यक्ति आवरण को दूर कर पायेगा। आवरण ही है जो उसे चैन नहीं लेने देता, भय और संशय की स्थितियों में ले जाता है, परिणामस्वरूप व्यक्ति चिंताओं में घुलता रहता है।

एक युवक ग्रेजुएट हो गया, आगे भी पढ़ना चाहता था पर घर में इतनी संपत्ति नहीं थी, न साधन ही थे कि आगे पढाई कर पाता। सोचा, अब नौकरी कर लेनी चाहिए। पर कहाँ करूँ, कैसे करूँ ? नौकरी की तलाश में अनेक संस्थानों, प्रतिष्ठानों में पहुँचा, घूमता रहा, नौकरी नहीं मिली, बेचारा बेरोजगारी का शिकार हो गया । घर के साधन भी समाप्त होते नजर आने लगे। चिन्ता हो गई कि अब जिन्दगी कैसे चलेगी ? डूबते को तिनके का सहारा मिला। एक पत्रिका में वेकेंसी निकली, उसकी आखों में चमक आ गई, चिड़ियाघर मे कुछ व्यक्तियों कि आवश्यकता है, इच्छुक व्यक्ति संपर्क करें। वह भी आशा से पहुँचा। इंटरव्यू के लिए लम्बी कतार लगी थी। उसने एक अफसर से निवेदन किया– साहब! मैं बहुत गरीब हूँ, बी.ए.पास कर लिया पर कहीं नौकरी नहीं मिली, आपकी बड़ी कृपा होगी कहीं नौकरी दिला दें। साहब ने युवक को ऊपर से नीचे तक निहारा, चेहरे की रंगत देखी, भांप गये कि यह दयनीय स्थिति में जी रहा है। अफसर दयालु प्रकृति के थे, कुछ करूणा के भाव उभर आये, नाम दर्ज कर लिया। कहा– देखो भाई नौकरी करना चाहते हो तो 300 रूपये मासिक वेतन मिलेगा। "मुझे काम क्या करना होगा ?" उत्तर मिला भाई ज्यादा कोई श्रम का काम नहीं है, हमारे यहाँ भालू के पिंजरे में भालू को मृत घोषित किया गया है, खाल पिंजरे में पड़ी है,

उस खाल को ओढकर सीमित समय तक भालू का पार्ट अदा करना है। युवक ने मंजुर कर लिया। दुनिया का मनोरंजन करने लगा। एक दिन पास के पिंजरे का दरवाजा खुला रह गया, उस पिंजरे में शेर घूम रहा था। अनायास वह शेर धीरे धीरे उस ओर बढने लगा, उसने दरवाजे को धकेला और भालू के पिंजरे में प्रविष्ठ हो गया पिंजरे में बैठे भालू रूपी युवक के छक्के छूटने लगे, अब कैसे बचूँगा ? 300 रूपये के वेतन ने भारी मुसीबत में डाल दिया था। कोई उपाय भी नहीं सूझ रहा था। सोचने लगा पिंजरा भी चारों तरफ से बंद है, भागूँ भी तो कैसे ? शेर बहुत निकट आ गया। भालू दिवार के सहारे सटकर खडा हो गया, आँखें बंद कर ली, घिग्घी बंध गई, उसने अपने आप को परमात्मा के सुपुर्द कर दिया। 'हे भगवान ! मुझे बचा लो।' ऐसे ही समय में भगवान याद आते हैं। वैसे चाहे नास्तिक ही क्यों न हो और अन्य समय भले ही भगवान को गालियां ही देता हो। दुःख में सुमिरन सब करे। अरे भाई भगवान की शरण में जाना था तो अब तक अपने व्यक्तित्व को निखारने में क्यो लगा था, अस्तित्व पर निगाह क्यों नहीं गयी ? अस्तित्व की पहचान के लिए भीतर का दीप प्रज्वलित करना होता है। आवश्यकता है कि हम भीतर के परमात्मा को जान पाएँ।

भालू प्रकम्पित हुआ, शेर नजदीक आ गया था, फिर उसने पजा ऊपर उठाया और भालू के कंधे पर रख दिया। भालू घबराया। शेर ने कहा– "दोस्त घबराओ मत।" भय आश्चर्य में बदल गया। क्या शेर भी मानव भाषा बोलता है ? शेर ने उस विस्मय का भी निवारण कर दिया। मित्र मैंने तुम्हारी रामायण जान ली है। मैं भी एम.ए.पास हूं पर बेरोजगारी की वजह से यहां चला आया ताकि अपने व्यक्तित्व को निखार सकूं। दुनिया में अहं का पोषण कर सकूं। अरे यह बी. ए. पास, एम.ए. पास का क्या चक्कर है ? उन्होंने अपनी अपनी खालें उतारी और अस्तित्व की ओर चल पड़े। कुछ ऐसी ही

स्थिति हम सभी के साथ है। अभी तक हमने व्यक्तित्व का जामा पहन रखा था, पर जब भीतर का दीप जला तब मालूम हुआ कि तुम्हारा यह अस्तित्व नहीं है, कुछ और अस्तित्व है। खाल छोड़ दी, नौकरी छोड़ दी जैसी बातें सुनकर हमें हंसी आ सकती है। पर जहां आप फैक्ट्री में या आफिस में रह रहे हैं, कभी यह भी सोचा है कि समाज में क्या हो रहा है ? लेकिन जब तक उस स्तर पर नहीं आएंगे तब तक नहीं जान पाएंगे कि समाज की कैसी दयनीय स्थिति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यदि सुनना है तो उसकी बात आप फैक्ट्री की या बंगले की ऊपरी मंजिल से नहीं सुन सकेंगे, भूमि पर आकर उनके साथ बैठना होगा।

धार्मिक आयोजनों में भी इस अहं की बात आ जाती है, पोजीशन का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। छोटे संत प्रवचन दे रहे हैं तो क्या सुनना, बड़ों को सुन लेंगे। पर यदि सच्ची भूख लगी है तो हम यह नहीं सोचते कि मालिक परोस रहे हैं या उनके घर का कोई छोटा सदस्य या सेवक परोस रहा है। चाहे कोई परोसे हमारी थाली में भोजन सामग्री आनी चाहिए। यदि भूख ही नहीं है, पेट भरा है तो चाहे मालिक भी क्यों न परोसे आपकी निगाहें पराई थाली में झाँकेगी और अहं बीच में आ जायेगा और उसे तो सत्कार के साथ परोसा जा रहा है, ऐसा भोजन किस काम का ! वास्तविकता तो यह है कि भूख नहीं है। यही बात उन लोगों के साथ होती है जो व्याख्यान सुनने नहीं, अपने अहं का पोषण करने प्रवचन स्थल पर आते हैं। अन्यथा ज्ञान की बातें तो छोटे संत भी बताते हैं और यदि उनसे कहीं चूक हो जाय तो विनम्रता पूर्वक उस ओर संकेत किया जा सकता है। आखिर वे भी सभी कुछ त्याग कर साधु बने होते हैं। स्वयं को उनके स्तर पर रखकर देखना चाहिए। आज तो यह हो रहा है कि सम्पन्न व्यक्ति सम्पन्न के साथ ही मिलता है, उसे ही महत्व देता है। स्थिति यह है कि–

माया से माया मिले, कर कर लम्बे हाथ।
तुलसी हाय गरीब की, कोई न सुनता बात॥

गरीब जिसके न खाने का ठिकाना है रहने का, उसकी चिन्ता कोई नहीं करता। पर यदि समाज को संगठित करना है तो प्रत्येक व्यक्ति के साथ आगे आना होगा, बाहर से नहीं अंदर से परस्पर जुड़ना होगा, एक साथ धरती पर चलना होगा, हर व्यक्ति के दिल की धड़कन सुननी होगी। वह संगठन जुड़ेगा जहाँ हर व्यक्ति अपने अहं की कुर्बानी के लिये तत्पर रहेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बात अहं के विसर्जन से ही जुड़ती है चाहे क्षेत्र समाज का हो या आत्मा का। अहं एक आवरण बनकर व्यक्ति की वृत्तियों पर चढ़ जाता है और उसे सहज नहीं रहने देता। बात समझ में तभी आती है जब सभी क्षेत्रों में असफलता से सामना होता है, आत्मा के तार ही परस्पर जुड़ते हैं और संयुक्त होते हैं और इस संयोजन से जो संगीत उत्पन्न होता है वह यदि समाज में सुख, शांति, सौहार्द और व्यवस्था का निर्माण करता है तो आत्मा के क्षेत्र में 'स्व' के विसर्जन द्वारा परमात्म से संयुक्त होता है और भव–बाधा का विनाश करता है। इसलिये संत कवि कबीर ने कहा था–

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है, मै नाहिं।
जगत् अंधारा मिट गया, दीपक देख्या मांहिं॥

इस आत्मा को ही दीपक के रूप में उपमित किया गया है। यही जब प्रकाशमान होती है तब संशय और भ्रम मिट जाते हैं। और पूर्ण सत्य से साक्षात्कार की स्थिति बन जाती है और अपने अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है। परन्तु इस दीपक को अपने ही प्रयासों से प्रज्वलित करना होता है। गुरू, धर्मग्रन्थ और सज्जन पुरूष, राह दिखा सकते हैं, प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं, पर मंजिल तक पहुँचने के लिये चलना स्वयं को ही पड़ता है। इसलिये कहा जाता है– अप्प दीपो भव, "अपने दीप स्वयं बनो।"

परन्तु संसार की समस्या यह है कि यहां कोई अपने आत्म रूप में नहीं है। सभी किसी जाति, वर्ग, पद, कुल आदि की खाल ओढ़े हुए हैं और इस प्रकार दूसरों को तो धोखा दे ही रहे हैं स्वयं को भी ठग रहे हैं। भौतिकता जब प्रबल हो जाती है तब आत्म तत्त्व स्वतः ही दुर्बल हो जाता है। तब चिन्ता दिखावे की, बाह्य रूप की, ओढ़े हुए आच्छादन की रह जाती है और उसे बचाने के प्रयास में मनुष्य अनोखे कार्य करता रहता है। हम चाहें तो इसे ही माया कह लें जो नाना रूपों में व्यक्ति को ग्रसित कर उसे अपने इष्ट मार्ग से च्युत कर देती है। इसलिये यदि साधक से कहा जाता है 'तू शंकित होता हुआ चल' तो उसका भी महत्व है क्योंकि उस स्थिति में वह खोज बीन का भाव रखेगा और करणीय का विवेक करने में सक्षम होगा। पुलिस 'शक' करके ही मामलों की खोज में जुटती है और अपराधी तक पहुँच जाती है। यदि वह विश्वास करके चले, जो जैसा कहे या प्रदर्शित करे उसे ही सत्य मान ले तो वह अपराधों की योजना का पर्दाफाश करने और अपराधियों को पकड़ने में कभी सफल नहीं हो। निश्चय ही उसकी इस तरह की छानबीन में कई बार निरपराध अथवा सज्जन व्यक्तियों को भी संकट में पड़ना पड़ता है तथापि उस स्थिति को टाला भी नहीं जा सकता। इसी प्रकार हो सकता है कि साधक भी यदि शंकित रहता है और बहुत सोच–समझकर कदम रखता है तो कभी किन्हीं स्थितियों में भ्रमित हो जाये बात अलग हैं। अधिकांशतः साधना के मार्ग में भ्रमों से पूर्णतः बचा जा सकता है। यदि मन शुद्ध है, दृष्टि निरपेक्ष, लक्ष्य स्पष्ट तो सफलता मिलनी निश्चित है। यह सफलता ही तो इष्ट होती है, जिसका कोई भी मूल्य कम नहीं क्योंकि यह अपने अस्तित्व से परिचित करा देती है। OO

दि. 29.09.96

5. संबुज्झह किं न बुज्झह ?

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पति नो हेतु ललना।
शान्त सुधा रस जल नीधि, भव सागर मा सेतु ललना।।

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्य हु णत्थि ताणं।।
उत्तराध्ययन सूत्र 4/1

कुंभकार मिट्टी के लोंदे से घड़ा बनाता है। चाक पर लोंदे को चढ़ा कर जब चाक को घुमाया जाता है तब ही वह घड़े का आकार ले पाता है। आकार बन जाने के पश्चात् भी कुंभकार संतुष्ट होकर नहीं बैठ जाता, बल्कि आगे की प्रक्रिया भी जारी रखता है। यह आगे की प्रक्रिया यदि न की जाये तो वह घड़ा असंस्कारित रह जाता है, वह टूट–फूट सकता है। वह घड़ा सहसा टूटे–फूटे नहीं इसलिए घड़े को आवे में रखकर आग में पकाता है, संस्कारित करता है। यह संस्कारित करने की क्रिया ही सबसे महत्वपूर्ण है। यही कार्य सबसे कठिन भी तथा सबसे अधिक कष्टकारक भी है। परन्तु इसके बिना न जीवन संवरता है, न उसके लक्ष्य की ओर ही उन्मुख हुआ जा सकता है। इसलिए प्रभु महावीर ने भव्य प्राणियों को सम्बोधित कर कहा था– 'असंखयं जीविय' जीवन असंस्कारित है। जब तक मिट्टी के घड़े को आग में नहीं पकाया जाता वह असंस्कारित है। न जाने वह किस समय फूट जाय। इसलिए 'मा पमायए ' प्रमाद मत करो। कितना गहरा सूत्र है। असंस्कारित किस रूप में है ? अभी जो आयु कर्म के दलिक हैं अर्थात् वर्तमान में जितनी आयु लेकर आये हैं उसमें अनेक उपघात लग सकते हैं, उपघात लग न जाये इसलिए प्रमाद मत करो, क्योंकि प्रमाद का कोई भी क्षण या झटका आयु की डोरी को तोड़ सकता है, जीवन समाप्त हो सकता है। जब शरीर छूट जायेगा, आत्मा विदा हो जायेगी तब क्या कर पाओगे ? कैसा जीवन है ? कितना परिभ्रमण करने के बाद मनुष्य जीवन उपलब्ध हुआ है

इसलिए प्रमाद मत करो।

'जरोवणीयस्य हु णत्थि ताणं'

तुम्हारी आयु के क्षण तुम्हें निरन्तर बुढ़ापे के नजदीक पहुँचा रहे हैं, जरा के उपनीत अर्थात् नजदीक ले जा रहे हैं, दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि बुढ़ापे के माध्यम से मृत्यु के निकट ले जा रहे हैं, वहाँ कोई रक्षा करने वाला नहीं रहेगा। क्या ऐसा हो सकता है कि कोई चिकित्सक मिल जाय जो बुढ़ापे से रक्षा कर ले, दवा आदि के सेवन से बुढ़ापा न आये ? तीर्थंकरों का इतिहास देखें, उनके शरीर में कभी बुढ़ापा नहीं आता, वे वृद्ध नहीं होते। वैसे वे अतिवृद्ध हैं ज्ञान की दृष्टि से, शरीर से नहीं। चक्रवर्ती वासुदेव भी वृद्धावस्था में पहुँचे हों, ऐसा कहीं नहीं बताया गया है। हमें ढूँढना होगा कि इसका क्या कारण है ? उनका भी शरीर औदारिक पुद्गलों से निर्मित होता है, वैक्रिय और आहारक शरीर नहीं और हमारा भी औदारिक शरीर है। इसका कारण यह बताया गया है कि हमारा जीवन असंस्कारित है, संस्कारित नही है। प्रश्न होता है, इसे संस्कारित कैसे करें ? आचारांग सूत्र में जीवन को संस्कारित करने के अनेक सूत्र भरे पड़ें हैं, पर हम उन सूत्रों का समीचीनतया न अर्थ कर पाते हैं, न जीवन के साथ उनका संबंध जोड़ पाते हैं। ज्यादा से ज्यादा हम पारायण कर लेते हैं, स्वाध्याय कर लेते हैं, चिन्तन, मनन कर लेते हैं। पर केवल चिन्तन–मनन से जीवन संस्कारित नहीं होता। संस्कार के लिए जैसे घड़े को आवा में पकाया जाता है, वैसे ही जीवन को तपाना होता है, साधना होता है।

असंस्कारित को संस्कारित कैसे करें ? व्यक्ति सोचता है, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि इसीलिये तो हैं अन्यथा, इनकी क्या आवश्यकता है ? वस्तुतः ये व्रत, नियम, प्रत्याख्यान जीवन को संस्कारित करने वाले हैं। "व्रतु संवरणे" व्रत आच्छादित करते हैं, ढँकते हैं। आत्मा कर्मों से आच्छादित है और यदि व्रत भी आच्छादित करते हैं तो व्रत

नियम प्रत्याख्यान आत्मा के लिए लाभदायी कैसे हुए ? इस बात को किंचित गंभीरता से समझें। किसी व्यक्ति ने तीर छोड़ा या भाला फेंका तो वह व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है परन्तु एक ढ़ाल होती है व्यक्ति के हाथ में, जिसे बचाव के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

कर्मों का जो बंध है वह आच्छादन के रूप में नहीं है, बल्कि वे कर्म पुद्गल आत्मा के साथ एक मेक रूप में जुड़े हुए हैं, आत्म प्रदेशों के साथ घुल–मिल गए हैं और उनसे आत्मा मलिन है। ये तीर या भाले के रूप में प्रविष्ट हुए हैं। व्रत ढ़ाल के रूप में है। वर्षा हो रही है और व्यक्ति ने सारे शरीर को बरसाती से ढ़ँक लिया हो तो उसका शरीर भीगेगा नहीं बरसाती भीगेगी।

यदि छतरी से ढ़क लिया तो धूप से रक्षा हो जायेगी, वैसे ही व्रत, नियम, प्रत्याख्यान चाहे वे छोटे–छोटे ही हों पर वे हमारे जीवन को संस्कारित करने वाले हैं, संवृत करने वाले हैं। अर्थात् ये एक प्रकार से आत्मा का 'कवर' बन कर उसकी रक्षा करते हैं जैसे बरसाती। व्रत इसलिये है कि बाहर से आने वाले पदार्थ आत्मा में प्रविष्ट न हों, परन्तु जो पहले प्रविष्ट पा चुके हैं, व्रत उन्हें दूर नहीं कर सकते। उसके लिये तप की बात कही गई है–

'अहिंसा संयमो तवो'

'आत्मा अहिंसा, संयम प्राण और तप शरीर हैं।' इस त्रिपुटी में जिस समय हम संयुक्त होंगे, धर्म का स्वरूप हममें उजागर होगा। ये व्रत, नियम, प्रत्याख्यान संस्कारित करने वाले हैं, इसलिये इनसे संस्कारित व्यक्ति सहसा मृत्यु के निकट नहीं पहुँचेगा और यदि पहुँच भी गया तो भी उसके हृदय में यह पीड़ा नहीं होगी कि मैं असंस्कारित रूप में आया था और उसी रूप में रवाना हो रहा हूँ। इसलिये प्रमाद मत करो , जीवन को संस्कारित करो।

एक शिष्य भिक्षाचर्या करके लौटा। विधान है कि वह जो कुछ

गोचरी में लाये वह गुरू के सामने प्रस्तुत करे। शिष्य भी गुरू चरणों में पहुँचा, एक–एक पात्र खोल कर गुरू के सामने रख दिये कि मैंने अमुक–अमुक पदार्थ प्राप्त किए हैं। गुरू ने पूछा क्या कारण है कि आज तुम्हें विलम्ब हो गया। उत्तर मिला– गुरूदेव, मैंने एक घर में भिक्षा के लिए प्रवेश किया। बहन की दृढ़ भावना, श्रद्धा देखी, उसने भाव पूर्वक एक मोदक बहराया। जिस समय बहराया जा रहा था लड्डू की सुवास नाक तक पहुँची। रसना का भी संयोजन हो गया। मन में विचार हुआ लड्डू एक मिला है, एक लड्डू तो गुरू को धामने का हो गया। गुरू ने ले लिया तो मैं तो कोरा का कोरा रह जाऊँगा। साधु की मर्यादा होती है वह रोटी छाछ, पानी आदि तो माँग सकता है पर दूध, दही, घी, मिठाई आदि सरस पदार्थ नहीं माँग सकता। यदि शारीरिक कारण हो तो अन्य पदार्थ अपवाद रूप में माँग सकता है, पर सामान्यतः गरिष्ठ पदार्थों की माँग नहीं होनी चाहिए।

शिष्य ने आगे की बात बताई– "गुरूदेव, मैं दूसरा लड्डू माँग नहीं सकता था, इसलिये घर से बाहर निकला, दीवार की ओट में जाकर वैक्रिय शरीर से रूप बदलकर बाल मुनि का रूप बनाया और घर में प्रवेश किया। बहन ने पुनः एक मोदक बहराया। फिर विचार किया कि यह दूसरा लड्डू भी साथी संतों में थोड़ा–थोड़ा देने पर पूरा हो जायगा। मुझे तो नहीं मिल पायेगा। फिर बाहर आकर वैक्रिय किया से वृद्ध का रूप बनाया और तीसरा लड्डू प्राप्त किया। इस प्रकिया के कारण मुझे विलम्ब हो गया।"

गुरू ने कहा– जैसा तुम जानते हो कि लड्डू की माँग नहीं करनी चाहिये थी, वैसे ही श्रमण को भिक्षावृति के लिये वैक्रिय लब्धि का प्रयोग भी नहीं करना चाहिये था। उसे तो वैसे भी लब्धि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यदि संघ रक्षा आदि के विशेष कारण से विष्णु कुमारमुनि की तरह प्रयोग किया भी तो वह भी क्षम्य नहीं है। उसका भी आलोचना, प्रायश्चित आदि से शुद्धिकरण करना होता है। तुमने

भी लब्धि का प्रयोग किया है अतः आलोचना–प्रायश्चित से शुद्धिकरण कर लो। लब्धि प्रयोग के बाद यदि आलोचना नहीं की तो जीवन सुरक्षित नहीं रह पायेगा और वैसा व्यक्ति आराधक नहीं रह पायेगा। शिष्य ने कहा– गुरूदेव आश्चर्य। मुझे एक कला सिद्ध है और यदि मैंने उस कला प्रदर्शन से लड्डू प्राप्त किये तो ऐसी कौन–सी गलती की बात हो गई ?

गुरू ने उत्तर दिया– वत्स ! वह कला तो होगी पर यदि वह उपादेय नहीं हुई तो वह घातक भी हो सकती है। श्रमण जीवन में उसका प्रयोग उचित नहीं है। शिष्य ने कह दिया गुरूदेव मैं आलोचना, प्रायश्चित नहीं करूँगा और जहाँ कला का सम्मान नहीं वहाँ मैं नहीं रह सकता। जहाँ मेरी कला का सम्मान होगा वहाँ जाऊंगा। जब वह जाने लगा तब गुरू ने कहा– 'वत्स देखो, यह संयम–जीवन महान् पुण्य से प्राप्त होता है। कला प्रदर्शन के पीछे इसे नहीं छोड़ देना चाहिए। लेकिन यदि जा ही रहे हो तो मैं जानना चाहता हूँ कि कहाँ जाओगे। शिष्य सरल परिणामी भी था, कह दिया–

"गुरूदेव ! एक नट मण्डली है, जिसने कई बार आग्रह भी किया है। वे मेरी कला का सम्मान करते हैं और वे बहनें तो यहाँ तक कहने लगी हैं कि हम आपके चरणों की दासी हैं। अनुनय, विनय भी करने लगीं कि हमें छोडकर मत जाओ। पर मैं चला आया। पर यहाँ कला की पूछ नहीं है अतः मैं यहाँ रह नहीं सकता।"

गुरू ने कहा– वत्स जा रहे हो तो एक बात मेरी भी मान लो। तुमने व्रतों की बरसाती को स्वीकार किया था ताकि बाहर का पानी आत्मा को मलिन न कर दे। अब तुम उसे हटाना चाहते हो, असंस्कारित, प्रमत्त जीवन में जाना चाहते हो तो सुनो, इतने समय तक मेरी बातें मानी तो एक बात जाते–जाते और सुन लो।" शिष्य ने भी सोचा– रोक तो नहीं रहे हैं, बांधकर रखा भी नहीं जा सकता। मैंने पहले ही कहा है कि यह शरीर तो मिट्टी के घड़े के समान है न

जाने किस समय फूट जाय। प्रमाद से जीवन गर्त में गिर सकता है। निद्रा में, प्रमाद में, जीवन व्यतीत करने वाले के समझो कि प्राण नहीं है। यदि अप्रमत्त बन गये तो जीवन की सुरक्षा हो सकती है। गुरू ने कहा— जा रहे हो, लेकिन जहाँ मद्य और मांस का सेवन होता हो वहां अपने आपको संयुक्त मत करना, अन्यथा तुम्हारी प्रज्ञा कुंठित हो जायेगी। मांस वस्तुतः मनुष्य का भोजन ही नहीं है, पर जब उसे ग्रहण कर लिया जाता है तो अनेक विजातीय तत्व शरीर में पहुँच जाते हैं। फलतः बीमारियाँ पनपती हैं, बुद्धि मंद होती है। शाकाहारी भोजन स्फूर्ति प्रदान करने वाला तथा बौद्धिक विकास में सहायक होता है। जबकि मांसाहार विचारों को गलत बनाता है तथा बुद्धि में विकार, उत्तेजना आदि उत्पन्न करता है। इसलिए तुम्हें वहाँ नहीं जाना है। मदिरा भी ग्रन्थियों पर अपना कुप्रभाव डालती है परिणाम स्वरूप [illegible] क्षमता का ह्रास होता है। जहाँ इन दोनों का सेवन होता हो, वहां मत रुकना।

[illegible] नट मंडली की ओर चला गया। बहनों ने साधु को आगे [illegible] उन्होंने भी कहा— तुम्हारी भावना के अनुसार मैं रहने आ [illegible] पर मेरी एक शर्त है कि इस घर में मांस—मदिरा का सेवन [illegible] होगा। उन्होंने भी स्वीकृति दे दी। नट भी मान गया। [illegible] लड़कियाँ [illegible], नट मण्डली [illegible] आय का जरिया [illegible]

है कभी उठाता है पर यदि व्यक्ति पुरूषार्थ हेतु सजग हो, अप्रमत्त हो तो बच सकता है। अस्तु, समय सरकता चला गया।

एक दिन जब वह नाटक दिखाने जाने लगा तो बहनों से कहा– आज मैं रात्रि को लौट नहीं सकूंगा। वह तो चला गया। बहनों ने सोचा बहुत दिन हो गए हैं , आज वे लौटेगें नहीं क्यों न मन की मुराद पूरी कर लें। पिता से कहा– हमारे लिए मांस–मद्य की व्यवस्था कर दो। पिता ने कहा–यह ठीक नहीं है यदि उसे ज्ञात हो गया तो वह यहाँ नहीं रहेगा , चला जायेगा। वह हमारी आमदनी का जरिया है। पर बहनों ने बात नहीं मानी, मांस का सेवन किया, जमकर शराब पी और बेसुध होकर सो गई। संयोग की बात, उधर युवक का मन नाटक में नहीं लगा। उसने कहा– आज विधि हो नहीं पा रही है, कार्यक्रम स्थगित किया जाता है, और वह लौट आया। वहाँ का दृश्य देखा–मुँह भरे पड़े थे, मक्खियाँ भिन–भिना रही थी, बदबू आ रही थी ऐसा भंयकर दृश्य देखकर वह चौंक पड़ा । गुरूदेव ने कहा था–

'संबुज्झह किं न बुज्झह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।।'

सूत्रकृतांग 1/2/1/1

उसकी आत्मा अन्तर्नाद कर उठी। हे आत्मन् ! अब तो संबोध प्राप्त करो ! तत्काल कन्याओं को जगाया, तुमने मेरी शर्त भंग की अब मैं नहीं रहूँगा, मैं गुरू चरणों में पहुँच कर आलोचना, निन्दा, गर्हा से शुद्धिकरण करूँगा। बहनों ने कहा– प्रियतम ! हमारी भूल हुई है , हमें एक बार क्षमा कर दो । उत्तर मिला– नहीं मैं अटल हूँ , किसी हालत में प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूगां । काफी अनुनय, विनय की गई पर वह नही माना तब अंत में निर्णय किया– आप जाना ही चाहते हैं तो हमारी एक बात माने लें, हमारी अर्थव्यवस्था कर जायें, अन्यथा हमारा जीवन निर्वाह कैसे होगा ? उसने भी सोचा बात सही है। एक नाटक

दिखाकर जो भी धन राशि प्राप्त होगी इन्हें सौंप दूँगा फिर गुरू चरणों में जाकर आलोचना प्रतिकमण से शुद्धिकरण करूँगा। जीवन व्यवस्थित करने की भावना जाग गई थी पर वीच की व्यवस्था भी करनी थी।

राज–दरबार में पहुँचा और नाटक प्रारंभ किया। भरत सम्राट के जन्म, शैशव, बाल्यावस्था, युवावस्था, विवाह, चकरत्न की उत्पत्ति और छः खण्ड की साधना का सारा दृश्य कमशः दिखा दिया। वैकिय लब्धि से छः खण्ड़ों की साधना भी दिखा दी। वैक्रिय लब्धि से यह सब संभव है। उसने एक पार्ट प्रारंभ किया– आरिसा भवन की रचना की, शीश महल में प्रविष्ट हुआ, निरीक्षण करते हुए अंगुली से अंगूठी नीचे गिर पड़ी। खन–खनाहट हुई, आवाज गूँजी, उस द्रव्यमुनि के जिसने पूर्व में मुनि जीवन में प्रवेश किया था भीतर से चिंगारियाँ उठने लगीं। अरे ! तुम राज ऋषि भरत का पार्ट अदा कर रहे हो ! आरिसा भवन का दृश्य, कहाँ तुम जैसा नीच, पापी, हाथी से गधे की सवारी पर आने वाला, वमन करके पुनः चाटने वाला और उस वीर पुरूष का नाटक !! तुम अभिनय कर रहे हो पर क्या तुम्हें वह केवल्य ज्ञान मिल सकता है ? भीतर ही भीतर आलोचना, निन्दा, गर्हा के भाव उभरे। चिन्तन प्रगाढ़ बना, उज्ज्वल भावना उभरी, भरत का अभिनय था पर यर्थाथ हो गया ! कैवल्य ज्योति प्राप्त हो गई। भरत के समय जो आदर्श महल था। यहाँ भले ही वह नहीं था, नकली महल था पर चिन्तन की धारा बनी तो हृदय–शुद्धि हो गई। भले गुरू चरणों में नहीं पहुँचा पर आलोचना, निन्दा, प्रतिक्रमण की ललक स्फुटित हो चुकी थी उसी अप्रमत्त भाव से आगे बढ़ गया। भावना का निर्माण हुआ , रक्षा हो गई, संस्कारित हो गया। पूर्व संस्कार और एक प्रतिज्ञा गुरू की भीतर के कीटाणुओं को नष्ट करने में कामयाब हो गई। यदि एक प्रतिज्ञा का भी दृढ़ता से पालन किया जाय तो भी ये कीटाणु कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते। जीवन में वह बात घटित हो

गई जिसकी आशा भी नहीं थी। यह घटना इस बात का प्रमाण है कि जीवन के संस्कारित होने के लिए अप्रमत्त भाव की श्रृंखला, छोटा सा व्रत और प्रत्याख्यान भी महती भूमिका का निर्वाह करते हैं।

सम्राट श्रेणिक को प्रभु ने बताया था कि शुद्ध मन से की गई एक नवकारसी भी तुम्हारी नरक टाल सकती है। एक नवकारसी में इतना सामर्थ्य है कि वह असंयम की आँधियों के कितने ही दलिकों को नष्ट कर सकती है। प्रभु ने साधक के लिए तीन करण, तीन योग से महाव्रतों की बात कही है। श्रावक यदि महाव्रतों को धारण नहीं कर सकता तो उसके लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत–रूप बारह व्रतों का विधान किया गया है। यदि वह इन बारह व्रतों की बरसाती ओढ़ ले तो भी आत्मा का बचाव हो सकता है। यदि व्यक्ति व्रतों में आबद्ध नहीं है तो स्वयंभूरमण समुद्र, जो कि आधे राजू में फैला है, के पानी जितना पाप आत्मा में जुड़ता चला जाता है। परंतु व्रतों की परिधि में आने पर वह पाप घटकर एक घड़े के परिमाण भर का रह जाता है। तब आत्मा सुरक्षित हो जाती है। प्रभु का यह निर्देश ऐसा उपदेश है जो सभी के लिए उपादेय है। साधक इसे स्वीकार करे तभी वह ज्योति की ओर प्रयाण कर पायेगा। श्रद्धा के साथ व्रतों को स्वीकार कर दृढ़ता से उनका पालन करने पर आत्म–ज्योति प्रज्वलित होगी। अतः सजगता सावधानी और विवेक के साथ आगे बढ़ना है। बस यदि आप इतना भी कर सकेंगे तो जीवन में आने वाली विपदायें तो टल ही जायेंगी, आत्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु आधार भूमि का निर्माण भी हो जायेगा। फिर यह साधक पर निर्भर करेगा कि वह उस पर कितने भव्य भवन की रचना करता है।



दि. 30.09.96

6. शुद्ध चेतना और आत्म दर्शन

देखन दे सखी म्होने देखन दे।
चन्द्र प्रभु मुखचंद, सखी म्होने देखन दे।।

प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं के कल्याणार्थ जो देशना फरमाई है कि 'असंखयं जीविय, मा पमायए' अर्थात् जीवन असंस्कारित है इसलिए प्रमाद मत करो तब क्या जिसका जीवन असंस्कारित नहीं रहा, संस्कारित हो गया है, वह प्रमाद करे तो कोई एतराज नहीं ? केवल असंस्कृत जीवन वालों को ही प्रमाद नहीं करना है ? जिसमें संस्कार आ गए हैं वह तो प्रमाद कर सकता है। तर्क अपने स्थान पर सही है। किन्तु इसका अर्थ यह भी बनता है कि जो संस्कारित है वह प्रमाद करता ही नहीं। इस मायने को संस्कारी किसे कहा जाये ? जो मात्र स्कूलों में पुस्तकों में पढ़कर संस्कार की बातें सीखकर चल रहा है, उसे यहाँ संस्कारी नहीं माना है। अपितु यहाँ गहन अर्थों में संस्कारी माना गया है। वह यह कि जो स्वयं को जानने वाला है।

अतिमुक्त कुमार ने अपनी माता से कहा था– 'जो जानता हूं वह नहीं जानता। यह जो जान लेता है वह है संस्कारी जीवन जीने वाला क्योंकि वह जान लेता है कि मैं कौन हूं ? मेरा क्या स्वरूप है ? मैं कहां से आया हूं ? कहां जाना है ? यह ज्ञान जिसे हो जाए, वह है संस्कारी। यह ज्ञान केवल किताबों से प्राप्त नहीं होगा बल्कि अन्तःस्फूर्त होगा। स्वयं से पैदा होगा, चाहे गुरू के उपदेश से ही क्यों न हो पर भीतर में पैदा होगा और ऐसे संस्कारी जीवन वाला व्यक्ति प्रमाद में गमन नहीं करेगा। वह निरंतर शुद्ध अध्यवसायों में रमण करेगा। इस दृष्टि से साधु के भी दो भेद किए गए हैं– प्रमादी साधु और अप्रमादी साधु। पुनः प्रमादी के शुभ योग पडुच्चे और अशुभ योग पडुच्चे के रूप में दो और भेद किए गए हैं। इसमें जो शुभ योग वाला है वह अप्रमत्त के उपपात में है।

भगवती सूत्र के अनुसार भगवान महावीर स्वामी से गौतम ने पृच्छा की "हे भगवन् ! यह जीव आत्मारंभी है, परारंभी है या तदुभयारंभी है या अनारंभी है ? आत्मा की हिंसा, दूसरों की हिंसा या उभय आत्मा एवं दूसरों की हिंसा करने वाला है या अनारंभी है ? लम्बी पृच्छा है। वहां पर अप्रमत्त को अनारंभी कहा है, किसी प्रकार आरंभ करने वाला नहीं माना है। इसी प्रकार प्रमादी के जो दो भेद हैं– शुभयोग वाला और अशुभ योग वाला, उनमें शुभ योग वाले को अनारंभी माना है। अशुभ योग वाले को आत्मारंभी, परारंभी तथा तदुभयारंभी कहा गया है, किंतु अनारंभी नहीं। यहां जिस प्रमाद की बात कही गई है वह है अशुभ योग में जो जीवन जीया जा रहा है, वह असंस्कारी जीवन है। ऐसे जीवन वाला यदि निरंतर प्रमाद में पड़ा रहा तो वह चंद्र प्रभु भगवान के मुखचंद्र को देख नहीं पाएगा। कवि आनन्दघनजी के मन में यह चाह एक पुकार के रूप में प्रकट हुई है– देखन दे, सखी म्होने देखन दे......।

क्या आनन्दघनजी स्त्री हैं जो उनके सखी होगी या उनके पास कोई सहेली बैठी है ? वे किसे पुकार रहे हैं ? हमारे भीतर एक अशुद्ध चेतना है और एक शुद्ध चेतना है और योग की अपेक्षा से, जैसे शुभ योग अशुभ योग के भेद किए गए हैं, वैसे ही चेतना के भी ये दो भेद किए गए हैं– शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना। बहुत काल से अशुद्ध चेतना ने चंद्रप्रभु रूप आत्मा को दबोच रखा है। उस पर आवरण डाल रखा है। जैसे एक पति की दो पत्नियां हों, जिनमें एक पत्नी ऐसी हो जिसने अपने हाव–भाव से, रंग ढंग से पति को अपने आसक्त कर रखा हो और पति भी उसी में ऐसा रमा समा हो कि दूसरी पत्नी की ओर देखता भी नहीं। ऐसी स्थिति होने पर वह दूसरी पत्नी विचार करती है कि यदि मैं पुकारने जाऊँगी तो निश्चित नहीं कि सहसा वह मेरी बात सुने, वह मेरी सोत या बहन मुझे पहुँचने भी नहीं देगी, न आवाज को उन तक जाने देगी । इसलिए अच्छा है कि

6. शुद्ध चेतना और आत्म दर्शन

देखन दे सखी म्होने देखन दे।
चन्द्र प्रभु मुखचंद, सखी म्होने देखन दे।।

प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं के कल्याणार्थ जो देशना फरमाई है कि 'असंखयं जीविय, मा पमायए' अर्थात् जीवन असंस्कारित है इसलिए प्रमाद मत करो तब क्या जिसका जीवन असंस्कारित नहीं रहा, संस्कारित हो गया है, वह प्रमाद करे तो कोई एतराज नहीं ? केवल असंस्कृत जीवन वालों को ही प्रमाद नहीं करना है ? जिसमें संस्कार आ गए हैं वह तो प्रमाद कर सकता है। तर्क अपने स्थान पर सही है। किन्तु इसका अर्थ यह भी बनता है कि जो संस्कारित है वह प्रमाद करता ही नहीं। इस मायने को संस्कारी किसे कहा जाये ? जो मात्र स्कूलों में पुस्तकों में पढ़कर संस्कार की बातें सीखकर चल रहा है, उसे यहाँ संस्कारी नहीं माना है। अपितु यहाँ गहन अर्थों में संस्कारी माना गया है। वह यह कि जो स्वयं को जानने वाला है।

अतिमुक्त कुमार ने अपनी माता से कहा था– 'जो जानता हूं वह नहीं जानता। यह जो जान लेता है वह है संस्कारी जीवन जीने वाला क्योंकि वह जान लेता है कि मैं कौन हूं ? मेरा क्या स्वरूप है ? मैं कहां से आया हूं ? कहां जाना है ? यह ज्ञान जिसे हो जाए, वह है संस्कारी। यह ज्ञान केवल किताबों से प्राप्त नहीं होगा बल्कि अन्तःस्फूर्त होगा। स्वयं से पैदा होगा, चाहे गुरू के उपदेश से ही क्यों न हो पर भीतर में पैदा होगा और ऐसे संस्कारी जीवन वाला व्यक्ति प्रमाद में गमन नहीं करेगा। वह निरंतर शुद्ध अध्यवसायों में रमण करेगा। इस दृष्टि से साधु के भी दो भेद किए गए हैं– प्रमादी साधु और अप्रमादी साधु। पुनः प्रमादी के शुभ योग पडुच्चे और अशुभ योग पडुच्चे के रूप में दो और भेद किए गए हैं। इसमें जो शुभ योग वाला है वह अप्रमत्त के उपपात में है।

भगवती सूत्र के अनुसार भगवान महावीर स्वामी से गौतम ने पृच्छा की "हे भगवन् ! यह जीव आत्मारंभी है, परारंभी है या तदुभयारंभी है या अनारंभी है ? आत्मा की हिंसा, दूसरों की हिंसा या उभय आत्मा एवं दूसरों की हिंसा करने वाला है या अनारंभी है ? लम्बी पृच्छा है। वहां पर अप्रमत्त को अनारंभी कहा है, किसी प्रकार आरंभ करने वाला नहीं माना है। इसी प्रकार प्रमादी के जो दो भेद हैं– शुभयोग वाला और अशुभ योग वाला, उनमें शुभ योग वाले को अनारंभी माना है। अशुभ योग वाले को आत्मारंभी, परारंभी तथा तदुभयारंभी कहा गया है, किंतु अनारंभी नहीं। यहां जिस प्रमाद की बात कही गई है वह है अशुभ योग में जो जीवन जीया जा रहा है, वह असंस्कारी जीवन है। ऐसे जीवन वाला यदि निरंतर प्रमाद में पड़ा रहा तो वह चंद्र प्रभु भगवान के मुखचंद्र को देख नहीं पाएगा। कवि आनन्दघनजी के मन में यह चाह एक पुकार के रूप में प्रकट हुई है– देखन दे, सखी म्होने देखन दे......।

क्या आनन्दघनजी स्त्री हैं जो उनके सखी होगी या उनके पास कोई सहेली बैठी है ? वे किसे पुकार रहे हैं ? हमारे भीतर एक अशुद्ध चेतना है और एक शुद्ध चेतना है और योग की अपेक्षा से, जैसे शुभ योग अशुभ योग के भेद किए गए हैं, वैसे ही चेतना के भी ये दो भेद किए गए हैं– शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना। बहुत काल से अशुद्ध चेतना ने चंद्रप्रभु रूप आत्मा को दबोच रखा है। उस पर आवरण डाल रखा है। जैसे एक पति की दो पत्नियां हों, जिनमें एक पत्नी ऐसी हो जिसने अपने हाव–भाव से, रंग ढंग से पति को अपने आसक्त कर रखा हो और पति भी उसी में ऐसा रमा समा हो कि दूसरी पत्नी की ओर देखता भी नहीं। ऐसी स्थिति होने पर वह दूसरी पत्नी विचार करती है कि यदि मै पुकारने जाऊँगी तो निश्चित नहीं कि सहसा वह मेरी बात सुने, वह मेरी सोत या बहन मुझे पहुँचने भी नहीं देगी, न आवाज को उन तक जाने देगी ।इसलिए अच्छा है कि

उस सौत को समझाया जाये। जिस समय उसका मूड बिगड़ा हुआ होता है वह उससे कुछ नहीं कहती पर जब देखती है कि उसका मूड अनुकूल है तब वह शुद्ध चेतना अपनी सौत अशुद्ध चेतना से कहती है– सखी म्होने देखन दे '

वह चन्द्रमा के समान शीतल , सौम्य रूप मुझे भी देखन दे। मैं पतिदेव के उस चन्द्रमुख को देखना चाहती हूँ। आनदिकाल से आत्मा इसी अशुद्ध चेतना में आबद्ध है उसने आत्मा पर पूरा–पूरा आवरण डाल रखा है। कबीर ने इसी अशुद्ध चेतना को महा ठगिनी माया कहा है– 'माया महा ठगिनी हम ज्ञानी।' इस कारण शुद्ध चेतना निकट नहीं आ पा रही है, यथा प्रवृत्तिकरण के पास जाकर भी लौट जाती है पर किसी–किसी शुद्ध चेतना की पुकार अशुद्ध चेतना सुन लेती है। फिर वह अपूर्वकरण करते हुए राग–द्वेष की ग्रंथि भेदकर दीवार गिरा देती है, दरवाजा खोल लेती है और चन्द्र प्रभु के समान शुद्ध चेतना के मुख चन्द्र के स्वरूप को देखने में सफल हो जाती है। सखी मुझे देखन दे, "देखन दे" इसमें देखना किया का प्रयोग बार–बार हुआ है। बार–बार प्रयोग से यहाँ पुनरुक्ति दोष भी कहा जा सकता है। पर यहाँ यह दोष नहीं है बल्कि अंतर के प्यास की तीव्र उत्कंठा को झलकाया गया है। इसलिए बार–बार प्रयोग किया गया है। एक व्यक्ति जो प्यासा है उसे केवल प्यास ही दिखाई देगी और वह यही कहेगा–'पानी दो, पानी दो'। वह धन या पद की याचना नहीं करेगा। उसके सामने जीवन–मरण का प्रश्न होता है और रक्षा का सूत्र है कि पानी मिल जाय ताकि जीवन बच जाय। जीवन बच जायेगा तो आगे की सारी स्थिति व्यवस्थित हो जायेगी। इस प्रकार प्यासे को जैसे एक मात्र पानी की चाह रहती है वैसे ही शुद्ध चेतना की एक मात्र अभीप्सा होती है कि वह चन्द्र प्रभु के मुख चन्द्र को देख ले। पर ये असंस्कार या अशुद्ध चेतना यदि जीवन में है तो उसका स्वभाव ही है प्रमाद में लिप्त करने का। उसे ही प्रभु ने

संबोधित किया है और संबोधित करते हुए कहा है कि चेतना के शुद्ध स्वरूप तक यदि पहुँचना है तो प्रमाद मत करो क्योंकि पहले ही जीवन असंस्कृत है अतः उसके साथ प्रमाद को मत जोड़ो क्योंकि यदि ध्यान नहीं रखा गया और यदि अविवेक के साथ अज्ञान जुड़ता गया तो वैसी ही स्थिति होगी जैसे वानरी को शराब पिला देने पर उसकी होती है या बंदर को यदि बिच्छु काट ले तो उसकी हो जाती है। बन्दर तो पहले स्वभाव से ही चंचल होता है, शांत नहीं बैठता, कभी इधर–कभी उधर, कभी ऊपर कभी नीचे उछल कूद करता रहता है, एक जगह नहीं टिकता, इसलिए मन को भी बन्दर की उपमा देना उचित है– 'म्हारो मन बांदरो रे।'

जैसे बन्दर तो पहले स्वभाव से ही चंचल फिर उसे शराब पिला दी जाये और उस पर यदि उसे बिच्छु काट ले तो फिर उसकी उछल–कूद की सीमा ही नहीं रहेगी। वैसे ही प्रभु ने कहा है कि पहले ही जीवन असंस्कारित है फिर उसे प्रमाद की शराब पिला दी जाय और उस पर संसारिक आकर्षण उसे बांध ले तो फिर वह इतना बेसुध हो जायेगा कि वह अपनी स्थिति को देख ही नहीं पाएगा। फिर तो वही हालत होगी–

अँधेरी नगरी, चौपट राजा।
टका सेर भाजी, टका सेर खाजा।।

सभी एक ही दाम में उतरते चले जायेंगे। काशी नगरी अत्यंत प्राचीन है। एक समय वहाँ ब्रह्मदत्त नामक राजा राज्य कर रहा था। राजा बहुत कंजूस था। वैसे राजा कंजूस कम ही होते हैं, पर उस राजा की वणिक बुद्धि ज्यादा चलती थी। वह सोचता जैसे भी हो दो पैसे बचाये जाय। चाहे उसके पीछे दो घंटे क्यों न खराब हो जाय। पर आज युग बदल रहा है, आज समय की कद्र की जाती है। आज यदि कोई व्यक्ति दुकान पर ज्यादा मोल–भाव करे तो दुकानदार कह देता है– आप दूसरी दुकान देख लो। पर एक

जमाना था कि यदि कहा जाता 20 रूपये की वस्तु है तो 8,10,14 रूपये करके मोल–भाव किया जाता था। कबीर ने एक पगड़ी बनाई और उसमें खर्च छह रुपये लगे। वे उसे बेचने पहुंचे, ग्राहक आते और पूछते पगड़ी का दाम , कबीर ने कहा– छः रूपये। ग्राहक ने कहा– तीन रूपये ले लो ,चार रूपये ले लो। पर कबीर ने कहा– खर्च छह रुपये लगा है अतः कम में तो नहीं बेच सकता। शाम तक बैठे रहे, लेकिन पगड़ी बिकी नहीं। कबीर ने सोचा कोई कला का पारखी नहीं है। उसमें दो–चार पैसे ही बचने वाले थे आज वह भी कमाई नहीं हुई। पुत्री ने देखा तो पूछा– अब्बाजान क्या हुआ? उत्तर मिला– क्या बताऊँ, आज इस पगड़ी में मात्र दो–चार पैसे बचने वाले थे, फिर भी यह बिकी नहीं। पुत्री ने कहा– लाओ मुझे दे दो। वह बाजार में पहुँची। व्यापारी ग्राहक निकल रहे थे। लोगों ने पूछा क्या है ? एक पगड़ी है। कीमत क्या है ? अरे आपसे क्या मोल करूँ , दूसरे से तो चाहे कुछ लूँ पर आपसे तो परिवार का सम्बन्ध भी है सिर्फ 12 रूपये में ही दे दूँगी। ग्राहक ने कहा– 8 रूपये ले लो। उत्तर मिला– मैं तो पहले ही कम कीमत बता रही हूँ। अच्छा तो 9 रूपये ले लो। उसने पगड़ी थमाई, 9 रूपये लिए और जाकर कबीर को 9 रूपये थमाये। कवीर ने तो उसी समय दोहा बना लिया। इतना असंस्कारित जीवन कि चीज भी नहीं देखते और फिर चतुराई दिखाते हैं कि 12 रूपये की वस्तु 9 रूपये में ले आया। पर वस्तुतः 12 रूपये की 9 में लाया या 6 की 9 रूपये में लाया था। मोल करके ग्राहक खुश होता है कि आज 3 रूपये की रहम कर दी और मुझे 12 रूपये की वस्तु 9 रूपये में ही मिल गई। पर आज वह मोलाई की स्थिति नहीं रही।

मैं बतला रहा था राजा ब्रह्मदत्त की वात। उसने अलग–अलग [illegible] पर अलग–अलग व्यक्तियों को नियुक्त कर रखा था और जिधर [illegible] [illegible] लगाई जा सकती थी वैसी कस लगवाता। उसने एक

क्रय–अधिकारी नियुक्त कर रखा था। जिसका कार्य था कि व्यापारी जो भी चीज लाता वह उसका मूल्य आँकता और पर्ची बनाकर दे दी जाती। तत्पश्चात् भंडारी उसका भुगतान कर देता। राजा का विचार बना कि क्रय–अधिकारी मूल्य अधिक लगा देता है अतः नया व्यक्ति नियुक्त किया जाय जो कुछ बचत कर सके। एक दिन वे महल में बैठे हुए गवाक्ष से देख रहे थे– एक माली कड़ी धूप में पौधों का सिंचन कर रहा था, पसीना चू रहा है पर वह कार्य में दत्त–चित्त था। राजा ने सोचा यह मेहनती है, यह व्यक्ति उस कार्य के लिए ठीक रहेगा। राजा के मन में बात आई बस फिर क्या देरी थी ? पूर्व–अधिकारी को हटाया गया और नये व्यक्ति को रख लिया गया। जब भी कोई आता यह अधिकारी जो मूल्य आँक देता, उतने पैसे मिल जाते। गुड़ और गोबर एक भाव बिकने लगे। आखिर माली की क्या औकात, बेचारे ने साग–भाजी ही तो बेची थी। लाखों का रत्न भी आय तो भी वह दो–चार पैसे ही आँक पाता।

कितनी भी अच्छी वस्तु हो पर वह तो साग–भाजी, तरकारी का मूल्य अंकित कर देता। लोग परेशान हो गए पर शिकायत भी किससे करें ? राजा का भय था , बोल नहीं पाते थे। एक बार उत्तरांचल से एक व्यापारी 500 घोड़े लेकर पहुँचा। क्रय अधिकारी को संकेत मिला और सारे घोड़ों का निरीक्षण कर 500 घोड़ों की कीमत आँकी–एक पंसेरी चावल। बेचारे सौदागर के पैरों तले भूमि खिसकने लगी, ये कैसे अधिकारी हैं ? 500 घोड़ों की कीमत 5 सेर चावल। क्या किया जाय ? देश भी नहीं लौट सकता था। वह पूर्व अधिकारी के पास गया, उससे भी उसका कई बार काम पड़ा था। उसने पूर्व अधिकारी से कहा–मार्ग सुझाइए–घोड़े भी चले गए 5 सेर चावल में। उसने कहा आप अभी जो क्रय–अधिकारी है उससे 5 सेर चावल की कीमत पूछो। यदि वह राज सभा में कहे तो वहीं बात करना ठीक है। बात तय हो गई।

दूसरे दिन राज दरबार जुड़ा। राजा ने पूछा आपने 500 घोड़ों की कीमत 5 सेर चावल कैसे आँकी ? उसे तो हिचकिचाहट भी नहीं थी। उसने कहा– घोड़ो के बदले एक पंसेरी चावल की कीमत कम नहीं है और कितनी कीमत हो सकती है ? राजा ने प्रति प्रश्न किया– ये बतलाइए एक पंसेरी चावल की कीमत क्या हो सकती है ? उसने कहा– बस उतनी ही जितनी की काशी राज्य और आस–पास के जितने भी राज्य हैं उन्हें बेचने से प्राप्त हो, वह कीमत होगी एक पंसेरी चावल की । लोग हँसने लगे, वाह–वाह कैसे कय अधिकारी हैं ? 500 घोड़ों की कीमत एक पंसेरी चावल ! पर बोल नहीं पाए क्योंकि कय अधिकारी का भी एक ओहदा था, राजा भी विराजमान थे पर अन्दर ही अन्दर खुसर–पुसर होने लगी। विचार चल रहे थे इतने में ही पूर्व अधिकारी का प्रवेश हुआ वह भी आज विशेष अनुमति से आ पहुँचा था। उसने कहा राजन् इनकी बात एकदम ठीक है जैसे कि इन्होंने कहा है एक पंसेरी चावल काशी के समीपस्थ राज्यों की कीमत का परिमाण है तो 500 घोड़ों की कीमत के अनुसार सौदागर को इन सारे राज्यों का अधिकार प्राप्त हो।

आपको भी बात समझ में आ गई होगी। यदि यह समझ में नहीं आयेगी तो कौन–सी बात समझ में आयेगी ? यदि सरकार एक कानून बनाएगी तो हम 'बाय पास' कर आगे बढ़ जायेंगे, ये जाते हुए मार्ग हैं, पर यह चतुराई चन्द्र प्रभु के दर्शन में काम नहीं आयेगी। वहां प्रभु की दृष्टि में हमारा असंस्कारित जीवन होगा। यह चतुराई प्रभु दर्शन, आत्म दर्शन में सफल नहीं होने देगी। राजा ने उस अधिकारी को अधिकार दिया तो घोड़ों के बदले राज्य देने की नौबत आ गई। उसी समय उस व्यक्ति को नारियल पकड़ाया, तिलक लगाकर सीख दे दी। आपके पास भी यदि ऐसा मुनीम होगा तो क्या उसे टिकने देंगे ? आज तो कहा जायेगा– 'यू कैन गो' ! मार्ग खुला है, सीख भी नहीं देंगे।

बंधुओ ! जरा विचार कीजिए–प्रभु दर्शन के लिए कहीं हम भी तो कय अधिकारी बने हुए नहीं हैं कि 100, 200, 1000 रुपये खर्च कर के प्रभु दर्शन कर लें। प्रभावना बँटा दी, चढ़ावा चढ़ा दिया कि हमें सब कुछ प्राप्त हो जाय पर इससे जीवन व्यवस्थित नहीं हो पायेगा। फिर साथ में प्रमाद का पुट मिल जाये तो स्थिति दयनीय हो जायेगी। दर्शन तो दूर, अशुद्ध चेतना को भी जान नहीं पायेंगे और शुद्ध–चेतना तो बेचारी कोने में ही दुबकी पड़ी रहेगी, कोई पुकार सुनने वाला नहीं होगा। इसलिए जागिये, समय मिला है कवि तो बार–बार संबोधन दे रहा है– देखन दे चन्द्रप्रभु मुखचन्द, सखी म्होने देखन दे। 'सखी म्होने देखन दे'।

वे तो कह ही रहे हैं , हम भी अपनी उस चेतना को संबोधित करें। हे मेरी शुद्ध चेतना ! मुझे बता मेरा पति, मेरा साहब कौन है ? जब से मैं उसके साथ हुई हूँ मैने दर्शन नहीं किए हैं। सुना है, उनका मुख उपशम रस का कंद है, वहाँ दुःख द्वंद नहीं रहते। पर दर्शन नहीं किये। आकाश में बादल छा जाय तो चन्द्र दिखाई नहीं देता। जब बादल हटे तो आशा हुई कि अब दर्शन होंगे। अब तक सुना ही है– उनका मुख सुन्दर है पर अब मैं देखना चाहती हूँ कि उस आत्मा रूपी पुरूष का रूप कैसा है, स्वरूप कैसा है ? यदि एक बार देख लिया तो उसे अपने भीतर अवस्थित कर लूंगी। आज हम अनेक कल्पनाएँ करेंगे कि प्रभु ऐसे हैं, वैसे हैं पर एक बार प्रभु महावीर के दर्शन तो कर लें। हम ध्यान करते हैं तो ध्यान में कल्पना कर लेंगे– प्रभु महावीर ध्यान में लीन हैं, आस–पास झाड़ हैं, चंडकौशिक ड़क मार रहा है। योगनिष्ठ कृष्ण के विषय में कल्पना कर लेंगे कि पीताम्बर धारण किए हुए हैं, मोर मुकुट है, आदि क्योंकि हमने फोटो में देखा है और जो देखा उसे ही मन में अवस्थित कर लिया है। पर क्या चित्रकार ने प्रभु को देखा था। उसने कल्पना कर ली थी और उसे ही चित्र में उकेर दिया। पर क्या हमने कभी भगवान् को देखने

की कौशिश की ? अपने भीतर के महावीर को देखा ? यदि एक बार देखकर हृदय में बैठा लिया तो फिर कभी भूलेंगे नहीं। कवि विनयचंद जी ने कहा है–

कबहुं न भूलूं हो चितारूँ नहीं।
सदा अखंड़ित ध्यान।

कितनी गहरी बात है। यह सामान्य बात नहीं है। न कभी भूलूं और न कभी याद करूँ, आप अपने आप को कितनी बार याद करते हैं कि मेरा अमुक नाम है ? कोई भी अपने नाम को याद नहीं करता और उसे भूलता भी नहीं। यदि अभी किसी का नाम लेकर आवाज लगाई जाय तो तुरन्त वह सजग हो जायेगा, दूसरा तो सजग नहीं होगा। अपने नाम की माला भी नहीं फेरी, जैसे स्लेट पर अ, आ लिखकर रटते हैं वैसे रटा भी नहीं, पर भूलते भी नहीं, वह स्थायी रूप से हृदय में बस गया है। ऐसे ही हमारे भीतर परमात्मा की छवि उतर जाय, यदि आप उसे बार–बार याद करते रहें तो इसका मतलब है आप भूल गए हैं। आप पूछेंगे तो क्या याद नहीं करें ? माला नहीं फेरें ? माला तो फेरनी है इसलिए कि वह जग जाए। मान लीजिये कि आप सागरमलजी हैं, आप सोये हुए हैं और कोई आपको जगाना चाहता है, तो वह तब तक आवाज लगाएगा जब तक आप जग न जायं। हमें भी भीतर के महावीर को जगाना है। घड़ा भरना है, ऊपर से एक–एक बूँद गिर रही है। घड़ा सोखता चला जा रहा है परन्तु आपको भरना जरूरी है तो आप ऊपर धार चालू रखेंगे या नहीं ? हम भीतर के महावीर को जगाने के लिए आवाज लगाते हैं ताकि उसकी नींद खुल जाय। उन त्रिशलानंदन को जगाने की जरूरत नहीं वे तो जागे हुए हैं, उन्हें पुकारने की जरूरत नहीं वे सब जानते हैं। उनकी ही तरह हमारी आत्मा है, इसे जगाना है। कवि एक बार उसे देखना चाह रहे हैं। उस प्रियतम के दर्शन को आतुर हैं।

एक बार पति–पत्नी में झगड़ा हो गया। पत्नी कह रही थी– आप दिन भर घर में बैठे रहते हो, दो पैसे कमाकर नहीं लाते, गृहस्थी कैसे चलेगी ? बस इतना ही झगड़ा था। पति का उत्तर था– तू देखती रह, एक बार मुझे सरकारी नौकरी तो मिलने दे मैं तुझे सोने चाँदी से मढ़ दूँगा।

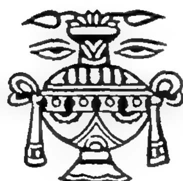
राह से राजा गुजर रहा था। उसकी बात सुनी, विचार किया, यह कह रहा है तो परीक्षा भी कर लूँ। राजा ने उसे बुलवाया और सरकारी पद दे दिया। उसने पूछा–मुझे काम क्या करना होगा ? उत्तर मिला– और तो कुछ नहीं समुद्र के किनारे बैठ कर लहरें गिननी हैं। उसने कहा ठीक है। समुद्र तट पर जाकर बैठ गया। दूर से ही नाव, स्टीमर, जहाज आ रहे थे। उसने संकेत कर दिया कि कोई इधर नहीं आ सकेगा। मुझे राजा के आदेश से लहरें गिननी हैं, जहाज इधर आ गये तो गणना में गड़बड़ी हो जायेगी। सभी परेशान हो गये। यदि समय पर नहीं पहुँचे तो जो अनुबन्ध किया हुआ है, एक दिन में सब गड़बड हो जायेगा। उन्होंने लेन–देन का विषय रखा, मरता क्या न करता। उसने बोरी रख छोड़ी थी, उसमें लोग राशि डालते गये और संध्या तक तो बोरी इतनी भर गई कि सिलाई में भी मुश्किल हो गई। दबा–दबा कर मोहरें भर दिये और ले जाकर पत्नी के सामने बोरी डाल दी। राजा ने भी देखा सचमुच इसने तो कमाल कर दिया। दूसरे दिन राजा ने उसे वहाँ से हटाया और अस्तबल में घोड़ों की रखवाली का काम सौंपा। वह पहुँच गया। अब किसी को भी घोड़ा लाने–ले जाने नहीं देता, कोई कुछ खिलाने आता तो मना कर देता, नही, घोड़ा बीमार हो जायेगा। एक–एक कर सभी व्यक्ति परेशान हो गये। आखिरकार उसकी जेब गरम होने लगी। शाम तक फिर बोरी भरने लगी। पत्नी से सारी बात कही, राजा ने भी सुन ली। विचार किया आदमी तो होंशियार है। इसलिए ठीक कह रहा था कि एक बार पद मिल जाय, कुर्सी मिल जाय, फिर देखो।

इस कथा के निहितार्थ पर हम जरा ध्यान दें। उस आदमी ने पुरूषार्थ द्वारा कमाई का साधन निर्मित कर लिया— और यह सत्य है कि जो पुरूषार्थ करता है वह अपने मनोरथ सिद्ध कर लेता है। अब कठिनाई यह है कि व्यवसाय के क्षेत्र में पुरूषार्थ करने की मानसिकता तो लोगों की है, परंतु साधना के क्षेत्र में पुरूषार्थ से लोग कतराते हैं— चाहते हैं, वह सहज ही प्रसन्न होकर कृपा कर दे। साधना में पुरूषार्थ की प्रकृति और इसका स्वरूप भिन्न प्रकार का है। उसमें हाथ–पैर नहीं चलाने होते हैं, मन की वृत्तियों को सही दिशा में चलाना होता है— चित्त को एकाग्र करना होता है और परम शक्ति के प्रति समर्पित होना पड़ता है। उसके प्रति वैसी ही लगन लगानी होती है जैसी कवि आनन्दघनजी ने चंद्रप्रभु के चंद्रमुख दर्शन हेतु दिखाई है— "देखन दे सखी, म्होने देखन दे।" परंतु कठिनाई यह हो गई कि सरकारी नौकरी की मानसिकता ने लोगों की वृत्तियाँ ही बिगाड़ दी हैं। उसमें पुरूषार्थ करना ही नहीं पड़ता। काम करो तो भी ठीक, न करो तो भी ठीक। रिटायर्ड होने पर हर महिने पेंशन मिलती रहेगी। यही मानसिकता आध्यात्मिक क्षेत्र में भी पैठ गई है— प्रभु का भजन चिंतन करो या न करो उससे मनोरथ की पूर्ति की कामना अवश्य रखो। पर वह साहब ऐसे नहीं रिझता है। वह पात्र देखता है। भक्ति कितनी प्रगाढ़ है तथा समर्पणा कितनी है, यह देखता है। इसलिये इसके नाम की रट भी उसे भक्त के प्रति उदार बनाती है। तुलसी ने इसीलिये कहा था— 'राम–राम रटतेउ रहो, जब लगी घट में प्राण। कबहुं तो दिन दयाल के, भनक पड़ेगी कान।' अतः आवश्यक है कि हमारे भीतर कवि आनंदघन जी की तरह तड़प जागे। हम प्रभु की छवि को मन–मंदिर में बैठाकर उसे पुकारते जायें और प्रार्थना करते रहें कि वह चंद्रप्रभु अपना मुखचंद्र हमें दिखा दे।

यदि हम गहराई से देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि चंद्रप्रभु के रूप के दर्शन की यह कामना वास्तव में उस शुद्ध चेतना से

साक्षात्कार की कामना है, जो 'अहम्' तत्व के रूप में सभी प्राणियों में समायी होती है। परंतु आवश्यकता होती है उसे नियोजित करने की, जिससे वह शुद्ध चेतना का रूप प्राप्त कर सके। यदि व्यक्ति ऐसा कर पाता है तो वह प्रमाद में गमन करने से तो बच ही जाता है, शुद्ध अध्यवसायों में उसके रमण करने की स्थिति भी बन जाती है। यह शुद्ध चेतना उसे आत्मदर्शन की दिशा में प्रवृत्त करती है और यही आत्मदर्शन तो उस चंद्रप्रभु का दर्शन है, जिसकी कामना कवि आनन्दघनजी ने अत्यंत उत्कट भाव से की है। OO

दि. 01.10.96



7. अहिंसा और धर्म

देखन दे सखी म्होने देखन दे।
चन्द्र प्रभु मुखचंद, सखी म्होने देखन दे।।
असंखयं जीदि मा पमायए।

धर्मप्रेमी बंधुओ ! प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं को संबोधित करते हुए कहा है– तुम्हारा जीवन असंस्कारित है, प्रमाद मत करो। जरा विचार कीजिये कि सहसा यदि कोई व्यक्ति किसी से यह कहे कि तूं असंस्कारित है, असभ्य है, तो उसके दिल पर कितनी चोट पहुंचेगी। मुझे असंस्कारित–असभ्य कैसे कह दिया ? प्रभु महावीर किसी के दिल को चोट नहीं पहुँचाना चाहते थे। पहुँचा भी नहीं सकते क्योंकि वे जानते थे कि–

'सव्व भूयप्पभूयस्य, सम्मं भूयाइं पासओ'

प्रभु ने उद्घोष किया कि सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान देखो। तो क्या वे किसी प्राणी के दिल को चोट पहुँचाने की कल्पना भी कर सकते थे ? आचारांग सूत्र में स्पष्ट कथन है– हे पुरूष ! तू यदि किसी को मारने या कष्ट पहुँचाने का अपने मन में संकल्प भी करता है तो तू जिसके हनन का संकल्प कर रहा है वह तूं ही है। आत्मभाव के साथ कितना तादात्म्य है इस कथन में ! यहां किसी को 'पर' नहीं माना गया है और जब कोई 'पर' नहीं है तब अपनत्व के धरातल पर किसी के जीवन का हनन नहीं करेगा। प्रभु से पृच्छा की गई– प्रभो ! धर्म का स्वरूप क्या है ? प्रभु ने धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा– 'अहिंसा संजमो तवो।'

अहिंसा का स्वरूप क्या है ? इसे समझें। कहा गया है–'मा हिंसान् सर्व भूतानि' किसी जीव को मत मारो– पर अहिंसा इतनी सीमित नहीं है। हमने उसे सीमित कर दिया है क्योंकि हम सीमित हो गए हैं ? हम व्याख्या करते हैं किसी की हिंसा नहीं करना

अहिंसा है। अहिंसा को हम धर्म मानते हैं और स्वभाव को भी धर्म कहते हैं। स्वभाव के अतिरिक्त जो कुछ है वह धर्म नहीं है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है– धम्मो वत्थुसहावो। एक ओर स्वभाव को धर्म कहा है और दूसरी ओर अहिंसा, संयम और तप को भी धर्म कहा है। इसे तनिक समझें। दूसरों को नहीं मारें, तभी वह अहिंसा धर्म होगी। यहां दूसरे की हिंसा की बात कही गई है और जहां दूसरा नहीं मिला तो वहां धर्म कहां रहेगा, कहां टिकेगा ? सोचना है कि यह परिभाषा कितनी संगत है। प्रभु महावीर ने यह कभी नहीं कहा कि दूसरे की हिंसा नहीं करना अहिंसा है। यह प्रभु महावीर की अहिंसा की परिभाषा नहीं हो सकती क्योंकि–

'सव्व भूयप्पभूयस्य, सम्मं भूयाइं पासओ'

प्रभु कह रहे हैं कि सभी की आत्मा को अपने समान समझो तो फिर दूसरा रहा कहां ? दूसरा जब बचा ही नहीं तो प्रभु ऐसी व्याख्या कैसे कर सकते थे ? प्रभु कह रहे हैं "जो है सो 'मैं' हूँ" सामान्यतः 'मैं' को अहंकार का प्रतीक माना जाता है। परंतु यहां यह 'मैं' अहं का नहीं बल्कि आत्मा का प्रत्यय है, आत्मा का लिंग है जिससे आत्मा की पहचान होती है– जैसे मेरी आत्मा का स्वभाव भी धर्म है इससे भिन्न नहीं, यदि भिन्न हो तो यह कैसे कहेंगे कि–

'सिद्ध जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।'

अपनी आत्मा को सिद्ध जैसी माना जा रहा है स्वरूप की दृष्टि से। वहां कोई भेद नहीं है तो फिर अहिंसा पर–सापेक्ष नहीं हो सकती क्योंकि अहिंसा को धर्म माना गया है। अहिंसा धर्म का केंद्र है और तप धर्म की परिधि है। इस केंद्र और परिधि को जोड़ने वाला है संयम। यदि संयम नहीं है तो अहिंसा और तप पड़े रहेंगे, धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा और शरीर को जोड़ने वाला है प्राण । यदि प्राण को अलग कर दिया तो शरीर और आत्मा तो रहेंगे, शरीर पड़ा

रहेगा और आत्मा भी अपने स्थान पर चली जायेगी। पर शरीर में रहने वाले 'मैं' प्रत्यय का जो संबंध है वह समाप्त हो जायेगा। अहिंसा और तप को जोड़ने वाला प्राण है– 'संयम'। संयम नहीं तो अहिंसा भी अहिंसा नहीं रहेगी। यह बात मैं अपनी कल्पना से नहीं कह रहा हूँ, इसके पीछे शास्त्रीय प्रमाण है। प्रभु से पूछा गया कि– एक अज्ञानी अभवी आत्मा दीक्षा धारण करती है और गौतम स्वामी के समान कठोर क्रिया का पालन करती है लेकिन क्या वह मोक्ष प्राप्त कर सकती है ? उत्तर होगा– नहीं। क्योंकि वह अभवी है– उसके भीतर संयम उतरा नहीं।

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥

जो मास–मास खमण की तपस्या करता है, किसी जीव को नहीं मारने की प्रतिज्ञा भी कर लेता है, पर जिसमें संयम नहीं है ऐसी तपस्या करने वाले के लिए उत्तराध्ययन कहता है कि वह धर्म में 16 वीं कला के बराबर भी नहीं आया। वह अहिंसा ही धर्म है, जिसमें संयम है। यह संयम भी तभी सुरक्षित रह सकता है जब उसमें तप का समावेश हो। जहां तप नहीं है वहां संयम भी नहीं है। आप कहेंगे कि किसी ने संयम स्वीकार किया पर उपवास, बेला, तेला नहीं करता तो क्या वह साधु नहीं है ? बात अटपटी लगेगी। पर सत्य यह है कि यदि संयम को सुरक्षित रखना है तो तप आवश्यक है। उपवास, बेला, तेला ही तप नहीं हैं। यदि क्षुधा से कम ग्रहण किया तो वह भी तप है। प्रतिसंलीनता अर्थात इंद्रियों को वश में रखना और 'इच्छा निरोधस्तपः' अर्थात इच्छाओं को सीमित करना या भीतर इच्छाओं को जागने ही नहीं देना यह भी तप है। इच्छा जागती रही तो साधु जीवन की साधना नहीं हो सकेगी। साधु जीवन हो परंतु उसके साथ इच्छाओं का अम्बार लगा रहे कि यह होना चाहिये, वह होना चाहिये तो समझिये अभी साधु जीवन में वह आनंद, वह मस्ती

नहीं आई जो साधु जीवन को सार्थक बनाती है। यदि आकांक्षाएं लेकर चलते रहें तो संयम की शुद्ध भूमिका नहीं बन पायेगी। उस स्थिति में वहां अहिंसा का जोड़ कैसे होगा ? चूंकि संयम अहिंसा और तप को जोड़ने वाला प्राण है, अतः यदि प्राण ही सुरक्षित नहीं तो फिर अहिंसा और तप तक पहुंच कैसे पायेंगे ? धर्म की परिभाषा तो होगी–

'अहिंसा संजमो तवो'

अहिंसा अकेली नहीं रहेगी, साथ में संयम और तप भी रहेंगे। अहिंसा नहीं हो तो संयम और तप भी अखंडित नहीं रहेंगे।

आज महात्मा गाँधी का स्मरण किया जाता है। 2 अक्टूबर के माध्यम से उन्हें विशेष रूप से याद कर लिया जाता है क्योंकि उन्होंने अहिंसा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया और उसकी एक मिसाल विश्व के सामने रखी थी। हो सकता है उनमें अहिंसा का कुछ रूपान्तरण हो, क्षेत्र सीमित रहा हो, पर संयम और तप वहाँ भी मौजूद थे। पौशाक से भले नहीं थे पर इच्छा का निरोध रूप तप वहाँ था। विदेश–गमन से पूर्व माता ने कहा था– विदेश गमन की अनुमति तभी मिलेगी जब पहले तीन प्रतिज्ञाएँ ग्रहण करो और महात्मा बेचरदास जी के पास उन्होंने ये तीन प्रतिज्ञाएँ ग्रहण कीं– मद्य, मांस और परस्त्री का त्याग करूँगा। महात्मा गाँधी के जीवन के उत्थान का मूल प्राण ये प्रतिज्ञाएं ही थी। विदेश में ऐसे प्रसंग भी उपस्थित हुए कि उन्हें मद्य और मांस के लिए आमंत्रित किया गया, बहिनों से सम्पर्क जोड़ने के प्रसंग भी उपस्थित किए गए पर महात्मा गाँधी ने स्पष्ट कह दिया कि मैं इनसे परहेज करता हूँ। मैं इनका सेवन/भोग नहीं करूँगा। मित्रों ने कहा–मिस्टर गाँधी, ये मामूली चीजें है। आज के व्यक्ति को अपने आपको थोड़ा बदलाव की स्थिति में लाना चाहिये। ये क्या, यह तो जौ का पानी है। क्या होता है, पी लें। महात्मा गाँधी ने कहा– क्या होता है, मुझे नहीं मालूम। पर संकल्प

करने से बौद्धिक हिंसा होती है। जहाँ तक अहिंसा की बात है और प्रभु ने उसकी जो परिभाषा दी है तथा आचार्य उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है–

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'

अर्थात् प्रमत्त योग से प्राणों का व्यपरोपण अर्थात् नष्ट करना, हिंसा है। इसमें भी यह नहीं कहा कि दूसरे के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है। यदि व्यक्ति स्वयं के भी प्राणों का व्यपरोपण करता है, चाहे वह शराब से हो या अन्य नशीले व्यसनों से तो वह भी हिंसा है। भगवती सूत्र में पृच्छा की गई कि जीव आत्मारंभी है या परारंभी, तदुभयारंभी है या अनारंभी है ? विचार करें कि आत्मा रंभी का रूप क्या है ? आत्मा का आरंभ अर्थात् हनन करने वाला चाहे वह साधु भी क्यों न हो, आत्मारंभी है। यहाँ आत्म हनन या आत्म हत्या का तात्पर्य फाँसी या कुए में गिरना ही नहीं है। यदि व्यक्ति निरन्तर कषायों में लिप्त रहता है अथवा अशुभ अध्यवसायों में रमण कर रहा है तो भी वह अपनी आत्मा का आरंभ कर रहा है। ठाणांग सूत्र में उस कषाय आत्मा को अनात्मा कहा गया है। वह जागृत नहीं है परभाव में या दूसरे के प्रभाव में है, 'स्व' स्वरूप में नहीं है। 'स्व' स्वरूप में नहीं है तो अहिंसा भी नहीं है। अपने ही प्राणों का शोषण कर रहा है। शोषण कैसे कर रहा है ? एक छोटी सी बात बतला दूँ– व्यक्ति स्वभाव में अधिक समय रहता है, आवेग में या तूफान में अल्प समय ही रह सकता है। पर एक बार में आया यह अल्प सामयिक तूफान भी भयंकर विप्लव मचा देता है। बहुत समय के स्वभाव की स्थिति को तहस–नहस कर देता है। क्रोध तीव्र गति से आता है, पर कितने समय टिकता है ? आयेगा अल्प समय के लिए पर मानस की उर्वरा भूमि को नष्ट–भ्रष्ट कर देगा। भूकम्प कितने समय के लिए आता है ? कुछ सैकंड या मिनटों के लिए। पर कुछ सैकण्ड़ों का भूकम्प ही भयानक विनाश की स्थिति उपस्थित कर देता है। अभी 2–3 वर्ष

पहले महाराष्ट्र में भूकम्प आया था– जिसने न जाने कितनों को बेघर कर दिया था। हमारे भीतर ऐसा भूकम्प जो आता है वह है आत्मा का आरंभ, वहाँ आत्मा स्वभाव में नहीं होती। जब वह अहिंसा में, स्वभाव में उपस्थित होती है तब वह सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझती है। तब– 'मित्ति में सव्वभुएसु' के भाव उद्‌भूत होते हैं। महात्मा गाँधी ने जो प्रत्याख्यान लिए थे वे उन पर दृढ़ रहे, यही कारण है कि भारतीयों ने उन्हें बापू नाम से संबोधित किया। राष्ट्रपति तो बहुत हो गए पर बताइए 'राष्ट्रपिता' कितने हुए। पति दूसरा कुछ पैदा कर सकता है, पर पिता जन्म देने वाला होता है। वे पिता ऐसे ही नहीं बन गए, अपने जीवन में अहिंसा को अपनाया, संयमित और नियमित जीवन जीया, इच्छाओं की, व्यसनों की उड़ान में नहीं उड़े। यदि वे व्यसनों के सेवन में लगे रहते तो कभी राष्ट्रपिता नहीं कहलाते। उन्हें इसलिये स्मरण किया जाता है, क्योंकि उन्होंने अहिंसा, मद्य–मांस का त्याग और क्षमा जैसे गुणों में आस्था रखने का संदेश दिया और एक नये मार्ग से आजादी दिलाकर सांस्कृतिक चेतना का मार्ग खोला।

परन्तु खेद का विषय है कि उन्हीं की सन्तान उनके द्वारा दिखाये गये पथ से विचलित हो गई है। सरकार भी उनके जन्मदिवस पर उत्सव मना लेती है, परन्तु अपने अपको उनके आदर्शों पर कितना खड़ा रख पाती है, यह हम सभी जानते हैं। उसे चाहिये पैसे, उसकी चिन्ता होती है कि आय कैसे बढ़े। सरकार क्या इसीलिये होती है ? आज व्यक्ति का आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक एवं शारीरिक स्तर पर पतन हो रहा है। नशीली वस्तुओं का व्यापक स्तर पर प्रचार–प्रसार हो रहा है, इनका पहला प्रभाव शरीर पर पड़ता है, फिर बुद्धि क्षीण होती है और उसके बाद आत्मा तक पतित हो जाती है। इस शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक पतन में सरकार प्रकारान्तर से सहयोग दे रही है। हम गांधी को केवल याद करते हैं, परन्तु

उनके आदर्शों को अपनाने के प्रति ईमानदार नहीं हैं । आज विपरीत स्थितियाँ हैं, व्यक्ति सोचता है मुझे क्या करना, मुझे कौन सा फ़र्क पड़ रहा है– यह उदासीनता की स्थिति है। यदि यही दशा रही तो आने वाले समय में हम पतन के और अधिक गहरे गर्त में गिर जायेंगे।

एक समय था– भारत ऋषि–मुनियों की भूमि कहलाता था। दूध, दही की यहाँ नदियाँ बहती थी , परन्तु आज दूध–दही के बदले उन्हीं दुधारू पशुओं के रक्त की नदियाँ बहाई जा रही है। आप कहेंगे हममें कुछ करने की क्षमता नहीं, जबकि सत्य यह है कि क्षमता तो आप में कम नहीं है तथापि हताशा के कारण आप उदासीन हो गये हैं। परन्तु यदि एक एक व्यक्ति में भावना का उभार हो और एक भावनात्मक आन्दोलन प्रारंभ हो तो सरकार को सोचने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। पर मात्र आवेग का उभार क्षणिक होता है। हम कौशिश तो करते हैं, पर सरकार की नीतियों के चलते नरम पड़ जाते हैं और कुछ समय बाद शान्त हो जाते हैं। आन्दोलन चला तो सरकार पर थोड़ा असर हुआ फिर उसने देखा कि जनता शांत हो गई तो कार्य पुनः चालू कर दिया। पंजाब और हैदराबाद में भी आन्दोलन चला– बूचड़खानों को लेकर, पर प्रभावहीन रहा। इस प्रकार समय बीतता जाता है और एक एक व्यक्ति को तोड़कर शांत कर दिया जाता है। हमारे पास समय है, शक्ति है, इनका उचित रूप में उपयोग होना चाहिये। प्रभु ने कहा है– सभी आत्माएँ समान है। चाहे वे मनुष्य की हो या पशु की। तब फिर आपका क्या दायित्व है ? सभी आत्माओं को समान समझा है तो कर्त्तव्य के प्रति आप में उपेक्षा–भाव नहीं आना चाहिए। यदि किसी भी रूप में यह सामने आया है तो समझ लीजिये कि आप भी उससे जुड़े माने जायेंगे। विधेयात्मक रूप से नहीं तो मत के माध्यम से। आपको मत का अधिकार है तो यह आपका दायित्व भी है कि आप शर्त रखें कि बूचड़खाने और शराब

की विक्री वंद होनी चाहिए। जव हजारो पत्र सरकार को मिलेंगे तो उसे भी पता लगेगा कि जनता क्या चाहती है ? फिर भी यदि सरकार ने जनता की उपेक्षा की, तो जनता भी दिखा सकती है कि उसकी कितनी शक्ति है। आज यह प्रजातंत्र का युग है तो प्रजा क्या चाहती है उसे यह सरकार को बताना होगा। पर यदि ये चलते रहे और आप सोचते बैठे रहे तो वात ठीक नहीं रहेगी। आप अपने कर्त्तव्य पालन में जुटें। साधु और श्रावक भी अपने–अपने कर्तव्यों पर अडिग रहें तो बहुत वड़ी अहिंसक कान्ति हो सकती है। आवश्यकता पडे तो प्रभु के श्रावक युद्ध क्षेत्र में भी पहुँच सकते हैं। प्रभु की अहिंसा कायरता नहीं है, वीरता है। अब यदि कोई कायर उसे अपनी ढ़ाल वना ले तो फिर अहिंसा की तेजस्विता नहीं रह पाएगी । देश को तेजस्वी वनाने के लिए कर्त्तव्य के प्रति जागृत होना होगा । परिवार समाज और देश के प्रति हमारा भी फर्ज है। परन्तु सबसे वडा फर्ज अपनी आत्मा के प्रति है। इस कर्त्तव्य की पालना प्रत्येक आत्मा को आत्मवत् समझने पर ही होगी।

यह कहा जा सकता है कि प्रभु ने धर्म के पालन में सामाजिकता को पूरा महत्त्व दिया वल्कि उनकी धर्म प्रभावना का उद्देश्य समाज का हित था। धर्म के माध्यम से उन्होंने समाज कल्याण का कार्य किया। प्राणी मात्र के कल्याण के लिए उन्होंने धर्म का स्वरूप वताया ताकि लोग धर्म पर स्थित वने। उनमें धर्म के प्रति एक ललक जगे। आत्मवत सर्व भूतेषु के प्रभाव से ही उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का वंध किया। साधु वने और केवल ज्ञान प्राप्त किया। यह निश्चित हो गया कि उनकी मोक्ष नहीं रुकेगी फिर भी उन्होंने प्रत्येक आत्मा के कल्याण के लिये उपदेश दिया, देश–विदेश में विचरे ! वे जानते थे कि प्रत्येक आत्मा अपनी आत्मा के तुल्य है जो अपनी आत्मा का स्वभाव या धर्म है वही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव व धर्म है। इसलिये उन्होंने प्रत्येक आत्मा के कल्याण के लिए ही देशना दी, और

देश–विदेश में विचरण किया। यदि प्रभु एक स्थान में रहते तो संयम साधना अधिक सरल होती। लेकिन नहीं, प्रभु इतने जागृत थे कि उनके पास चाहे हजारों लाखों सो जाते पर उन्हें झपकी भी नहीं आती थी। एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है, वातावरण का प्रभाव भी होता है इसलिये यात्रा करते समय यदि आप ड्राइवर के पास की सीट पर बैठते हैं तो ड्राइवर टिल्ला लगाता है, यदि मेरे पास सोये तो मुझे भी नींद आ जायेगी और ड्राइवर सो गया तो क्या हालत होगी ? पर प्रभु प्रभावों से अछूते थे। वे अपनी मुस्तैदी चाल से चल रहे थे। नींद तो आ ही नहीं सकती थी, दर्शनावरणीय कर्म ही नहीं रहे। अनंत शक्ति जाग्रत हो चुकी थी फिर नींद की क्या आवश्यकता थी ? जब हममें भी वह शक्ति जाग्रत हो जायेगी तो हमें भी सोना नहीं पड़ेगा। अभी तो सोना पड़ता है, विश्राम लेना पड़ता है ताकि हम शक्ति अर्जित कर लें। नींद इसलिए नहीं है कि हम मखमली गद्दों पर मधुर स्वप्नों में खोए रहें। स्वप्न में डूबे रहे तो नींद पूरी नहीं होगी, थकान नहीं मिटेगी, शरीर भारी–भारी लगेगा। दिनभर शरीर को यदि काम में लेंगे तो फिर देखेंगे कि गद्दे तकिए मिले या नहीं, पर ऐसी नींद आएगी कि आप आश्चर्य करेंगे। साधु के पास कौन से गद्दे होते पर वे शांति से निंद्रा लेते हैं। यदि सोने की सही विधि को नहीं जाना तो गद्दे तकिए क्या करेंगे ? नींद को गादी तकिए की आवश्यकता नहीं होती।

विहार में एक भाई साथ चल रहे थे। एक दिन जंगल में प्याऊ पर रूकने का प्रसंग आया पर भाई गांव में नहीं गए। कहने लगे– गांव में नहीं छोड़ा तो अब जंगल में अकेले कैसे छोड़ें ? वहां तो साधन थे नहीं, यहाँ तक कि बिछाने के लिए टावेल भी नहीं था, ऐसे ही सो गए। प्रातः काल हम तो समय पर उठे, प्रतिक्रमण आदि से निवृत्त हुए पर वे अपनी मस्ती में सोये थे। अचानक नींद खुली या किसी ने जगाया। मैंने पूछा– नींद आई या नहीं ? तो कहने लगे– ऐसी नींद आई जैसी घर पर कभी नहीं आई होगी। नींद के लिए

मखमली गद्दे जरूरी नहीं हैं। उन्हें तो हमने एक शौक बना रखा हैं। यदि अहिंसा का व्यापक रूप वन जाये और अपनी शक्ति को सही रूप से संयोजित रखें तो नींद की जरूरत ही नहीं रहे, विश्राम की जरूरत नहीं रहै। विभाव में शक्ति का ह्रास ज्यादा होता है जिसे क्रोध आता है उसे विश्राम की जरूरत महसूस होती है। उसे प्यास लगती है क्योंकि जीवनी शक्ति से रस वनना मंद हो जाता है। परिणामस्वरूप उसका गला सूखने लगता है। दूसरी स्थितियां भी विगडती हैं। विभाव के विस्तार में स्वभाव सिकुड़ता है परिणामस्वरूप उसका दायरा सिमट जाता है।

महाभारत का एक प्रसंग है– अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी कि जो भी मेरे गाण्डीव धनुष की निन्दा करेगा, या उसका अपमान करेगा, मैं उसका वध कर दूँगा। एक वार युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर को कर्ण ने बाणों से बींध दिया। युधिष्ठिर का शरीर क्षत विक्षत हो गया। उन्हें शिविर में लाया गया। अर्जुन साता पूछने पहुंचे। धर्मराज को क्रोध आ गया, कहने लगे क्या काम का यह तुम्हारा गाण्डीव, जिसके रहते कर्ण ने मेरे शरीर को क्षत विक्षत कर दिया ? युधिष्ठिर ने तो वात सहज भाव से कह दी। परतु अर्जुन की प्रतिज्ञा थी, पहुंचे, अपना गाण्डीव उठाया और चल पडे युधिष्ठिर के वध हेतु। मार्ग में योगनिष्ठ त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण मिल गये। अर्जुन से प्रश्न किया– अरे इस समय तो विराम के क्षण है, युद्ध वंद है फिर धनुष उठाये किधर जा रहे हो ? अर्जुन ने वात वता दी। कृष्ण ने सुना और कहने लगे– अर्जुन ! तुमने तो धर्मराज का वध कर दिया। अर्जुन चौंक पड़े– मैं तो अभी गया ही नहीं हूं फिर वध कैसे कर दिया ? कृष्ण ने समाधान दिया– नीतिकारो ने कहा है अपने से बड़ो का अपमान या तिरस्कार करने के लिए एक कदम आगे बढ़ा तो वह भी उनके वध के समान है। महावीर ने भी कहा है– मन से हिंसा, वचन से हिंसा और काया से हिंसा होती है। मन में हिंसा का संकल्प भी हिंसा है। अर्जुन तो

आगे बढ़ चुके थे, वचन से भी कह दिया था। वड़ों का तिरस्कार भी वध के तुल्य है।

वध के कई तरीके हैं। इस संबंध में एक नीति कथा है। एक बार एक ही अपराध से संबंधित तीन अपराधी राजा के सामने लाए गये। राजा ने देखा और दण्ड दिया। पहले की ओर दृष्टि उठाकर बस इतना कहा– अरे आप ? दूसरे को देश निकाला दिया और तीसरे को फाँसी का हुक्म सुना दिया। पहला व्यक्ति घर पहुंचा आत्महत्या कर ली। अरे इतने व्यक्तियों के बीच अपमानित होकर जीना भारभूत है।

दूसरे ने देश सीमा से बाहर निकल कर प्राण त्याग दिये– इतनों ने मुझे देख लिया, अब क्या जीना। तीसरा निर्लज्ज था। फांसी पर ले जा रहे थे तब भी हंस रहा था। लोगों को आश्चर्य हो रहा था– एक ही अपराध पर तीन दण्ड कैसे ? राजा ने कहा– मैंने तीनों को एक समान दण्ड दिया है। तीनों को प्राणदण्ड दिया है और तीनों का जीवन समाप्त हो चुका है।

श्रीकृष्ण ने समझाया– अर्जुन तुम मानसिक संकल्प से धर्मराज का वध कर चुके हो। प्रभु महावीर ने हिंसा के तीन रूप बताये ही हैं– मानसिक, वाचिक और कायिक। साधक के लिए तीन करण तीन योग का विधान है– वह हिंसा करे नहीं, करावे नहीं, अनुमोदन करे नहीं– मन से, वचन से और काया से। साधु के आगार नहीं हैं, उसके पूर्ण अहिंसा का लक्ष्य है। जब अहिंसा और संयम आ जायेंगे तब तप की परिधि से संयम सुरक्षित हो जावेगा। अहिंसा का आदर्श तथा धर्म का यह स्वरूप संतों एवं पूज्य आचार्यों के कारण ही सुरक्षित रह पाया है। युग दृष्टा जवाहराचार्य ने जब देखा कि अहिंसा को सीमित किया जा रहा है तब उन्होंने कहा– अहिंसा इतनी ही नहीं है। ग्राम में रहते हुए ग्राम के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करो। ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करो। यदि नहीं

कर सकते तो साधु बन जाओ। परिवार और समाज के दायित्व को वहां रहते हुए नहीं निभाया तो आपका जीवन भारभूत हो जावेगा । श्रुत और चारित्र धर्म में भी कपड़े पहनकर प्रवेश कर लिया, पर यदि अहिंसा नहीं आई तो 'स्व' स्वरूप फलित नहीं होगा। हम नारे लगाते हैं– 'अहिंसा परमो धर्मः'

अहिंसा परम धर्म कब बनेगा ? यदि पालन ही नहीं किया तो नारे से क्या होगा ? अहिंसा के लिए तप और संयम का भी जब वृत्तियों में समावेश होगा तब पूर्ण पुरुष का रूप बनेगा। आत्मा, शरीर और प्राण से ही जीवंत रूप निर्मित होगा और धर्म पल्लवित होगा। धर्म का रूप किस प्रकार उभरे, उसके लिए अन्वेषण करें, विचार करें, जो कुछ निकल जायेगा वह पराया होगा और जो शेष बचेगा वह आपका होगा । आत्मा जब भली भांति जागृत हो जायेगी और आप अहिंसा, संयम और तप से धर्म में प्रविष्ट होंगे तो प्रभु की श्रेणी में पहुंच जायेंगे। और फिर 'तुझमें मुझमें भेद नहीं रहेगा, अभेद, अमद अवस्था प्राप्त हो जायेगी।' इस प्रकार अहिंसा के माध्यम से धर्म फलित होगा। ○○

दि. 02.10.96



8. परमार्थ तत्त्व की महिमा

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी।
विविध भंगी मन मोहे रे।

शीतलनाथ भगवान् इस अवसर्पिणी काल के दसवें तीर्थंकर हुए हैं। यह प्रार्थना उन्हीं के प्रति है। प्रार्थना में कुछ परिवर्तन हुआ है और नाम का भी परिवर्तन हो सकता है। क्योंकि नाम ऊपर से आरोपित संबोधन होता है। अस्तित्व के साथ उसका संबन्ध नहीं रहता है। नाम से व्यक्ति को पुकारा तो जा सकता है पर नाम की ही पूजा उपासना नहीं होती। शीतल नाम के अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। पर सभी की जिनपति के रूप में उपासना नहीं की जाती। इस प्रकार नाम की एक सीमित आवश्यकता अवश्य है तथापि पूर्णता प्राप्त हो जाने के बाद नाम की भी आवश्यकता नहीं रहती। और वैसे भी आत्म–समाधि में नाम की जरूरत नहीं होती पर पहचान के लिए नाम का उपयोग किया जाता है। कवि आनन्दघन जी ने स्तुति करते हुए इसी प्रकार नाम का उपयोग किया है।

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रे॥

विचार करें तो स्पष्ट होगा कि करूणा कोमलता का ही एक रूप है। हृदय में यदि कोमलता नहीं है तो करूणा का झरना नहीं फूट सकता। उस स्थिति में करूणा की खेती नहीं लहलहा पायेगी। पत्थर हृदय में करूणा का वास नहीं हो सकता। वहाँ तीक्ष्णता, निर्ममता और कठोरता हो सकती हैं पर करूणा नहीं। कोमलता–कठोरता तथा करूणा तीक्ष्णता परस्पर विरोधी धर्म हैं। जब हम इन धर्मो की विवेचना करते हैं तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि शीतलनाथ भगवान में ये परस्पर विरोधी धर्म कैसे टिके रहते हैं। क्या जहाँ करूणा है वहाँ कठोरता, तीक्ष्णता, उदासीनता हो सकती है ? इनके

साथ अन्य प्रश्न भी उभरते हैं। करूणा और कोमलता का यदि सीधा संबंध जोडें तो वह संबंध राग भावों के साथ जुडता है। राग प्रशस्त है या अप्रशस्त यह विषय अलग है। अप्रशस्त राग के साथ करूणा का संबंध नही जुड़ सकता, प्रशस्त राग से संबंध जुड़ता है। कठोरता और उदासीनता द्वेष–जनित अवस्थाएँ हैं। इनके पीछे द्वेष के भाव झलकते है। हम प्रार्थना करने बैठे हैं वीतराग भगवान की, जिन्होंने अपने आपको राग–द्वेष से ऊपर उठा लिया था। जिनमें राग–द्वेष जनित वृत्तियाँ विद्यमान हैं उनकी प्रार्थना नहीं की जा सकती। प्रार्थना तो इसलिये की जाती है ताकि आराध्य के गुण हमारे आदर्श बने। परन्तु यदि गुण राग–द्वेष–जनित हैं तो उन्हें अपना आर्दश कैसे बना सकते हैं ? जिनकी उपासना की जा रही है उनमें यदि राग–द्वेष हैं तो यह भगवान के प्रति हमारी भक्ति हुई या अभक्ति ? इस संदर्भ में बहुत से प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। कभी–कभी ऐसी चर्चा भी की जाती है कि अनुकम्पा में मोह भाव होता है। लेकिन कवि आनन्दघन जी तो प्रार्थना करते हुए जो यह कह गये हैं–

'करुणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रे।

उनमें मोह–भाव से करुणा हो तो हमें सोचना होगा। यथार्थ में करुणा मोह भाव से निश्रित झरना नहीं है। करुणा का संबंध सीधा चेतना के साथ जुड़ा है और वहीं से वह निर्धारित होती है। सम्यक्त्व आत्मा की शुद्ध अवस्था है। सम्यक्त्व के लक्षणों में कहा गया है– सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था। इनमें अनुकम्पा भी एक लक्षण है। राग में कलुष भाव, मोह को बढ़ाने वाले भाव हो सकते हैं पर करुणा, अनुकम्पा, राग के अन्तर्गत यदि आती है तो उसके संदर्भ में प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है कि–

सव्व जग जीव रक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं।

अर्थात् संसार के सब जीवों की रक्षा–रूप दया के लिए भगवान ने प्रवचन कहे, यदि यह अनुकम्पा मोह के अन्तर्गत होती तो

यह कथन नहीं किया जाता। भगवान् प्रवचन कब कहते हैं ? छद्मस्थ अवस्था में वे प्रवचन नहीं करते, उपदेश देशना नहीं देते। जब वीतराग बन जाते हैं, राग–द्वेष से ऊपर उठ जाते हैं और केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन की ज्योति प्राप्त कर लेते हैं तब वे प्राणियों को दुःखी देखते हैं। कभी–कभी वैसे तो खुली आँखों से कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता पर जब माइक्रोस्कोप से देखते हैं तो बहुत से छोटे–छोटे अणु परमाणु भी दिख जाते हैं। ये वे अणु परमाणु नहीं हैं जिन्हें जैन–दर्शन में परमाणु संज्ञा से अभिहित किया गया है। वे तो छद्मस्थ होने के कारण नजर में नहीं आ सकते। उन्हें तो माइक्रोस्कोप से भी नहीं देखा जा सकता। परम् अवधिज्ञानी की बात अलग है एक अन्य बात भी है। प्रयोग करके देखें– किसी कमरे के द्वार में यदि छिद्र हो तो उससे प्रकाश की जो किरण आ रही होती है। उसमें अनेक तन्तु उड़ते हुए दिखाई देते हैं। वैसे तो वे आँखों से दिखाई नहीं देते पर उस किरण के माध्यम से वे नजर आने लगते हैं। तीर्थंकरों को केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उनका सारा तिमिर दूर हो जाता है, पर्दा हट जाता है तब दुनियाँ में जितने भी जीव हैं वे उस ज्ञान के प्रकाश में झलक जाते हैं। प्राणियों के दुःखों को देखकर उनमें सहज ही करूणा का स्रोत निर्झरित हो जाता है और उसी करूणा भाव से प्रेरित होकर वे उन भव्य आत्माओं को संबोधित करते हैं–

'असंखय जीविय मा पमायए'

तुम्हारा जीवन असंस्कारित है, प्रमाद मत करो। तुम प्रमाद कर रहे हो, यही दुःख का कारण है। ऊपर से तुम जरूर सुख के आकांक्षी हो पर यथार्थ में सुख की कामना तुम में नहीं है। जैसे प्रभु के अन्तर से करूणा का स्रोत वहता है, वैसी ही भीतर से सुख की कामना, उपासना, आराधना उपजे तव सुख मिलता है। विरल व्यक्ति ही सुख की कामना करने वाले मिलेंगे। तव यह पूछा जा सकता है

कि क्या यहां बैठे सभी व्यक्ति सुख नहीं, चाह रहे हैं ? यह व्यक्ति स्वयं चिंतन करें कि वह सुख चाह रहा है या दुःख क्योंकि एक नीति कथन है–

'दुःख दिया दुःख होत है, सुख दिया सुख होय।'

इस कसौटी से परीक्षण कर लिया जाय कि कौन क्या चाहता है। नीति का यही कथन अहिंसा से जुडता है, आत्म भावों से जुड़ता है– सभी की आत्मा मेरी आत्मा के तुल्य है। प्रभु महावीर ने सभी को अपने समान स्वीकार कर लिया इसलिए किसी को कष्ट नहीं दिया फिर चाहे संगम ने, ग्वाले ने कैसे भी उपसर्ग दिए हों, अनार्य क्षेत्र में प्रभु पर शिकारी कुत्ते छोड दिए गए हो पर प्रभु ने किसी का प्रतिकार नही किया। उनके हृदय में कौन से भाव प्रवाहित हो रहे थे–

कुल्हाड़ी से कोई काटे, कोई आ फूल बरसाये।
खुशी से दे दुआ यकसाँ, अजब सारे चलन ही हैं॥

जगत् के तारने वाले जगत् मे संत जन ही है। संत को जगत् मे तारने वाला कहा गया है। क्यो ? प्रभु पर अनेक उपसर्ग देने वाले आये, तो बहुत से फूल चढाने वाले भी आये। सचित्त फूल नही चढाये, नही तो कहते कि प्रभु पर फूल चढाये गये थे अतः हम भी आज फूल चढायेंगे। वे फूल थे श्रद्धा के, गुणानुवाद के, गुणोत्कीर्तन के। लोगस्स में, णमोत्थुणं में, प्रभु की स्तुति, गुणोत्कीर्तन के भाव ही तो हैं। ये भाव रखने वाले भी आये पर प्रभु न इधर खिंचे हुए, न उधर। अपितु एकाग्र भाव से अपना मार्ग तय करते रहे। यह ध्यान में रखने का तथ्य है कि यदि हमने शरीर को एक ओर देखा दे दिया [illegible]

की आराधना, उपासना के लिए हमें तीर्थंकर संकेत करते हैं पर हम समझ नहीं पाते हैं। संतुलन बिगाड़ लेते हैं। इसीलिए प्रभु ने कहा है–

'असंखय जीविय मा पमायए'

जीवन असंस्कारित है, प्रमाद मत करो। जीवन को संस्कारित करो। कब होगा जीवन संस्कारित ? एक पौधा भूमि से बाहर आया, माली ने उसकी सुरक्षा के लिए बाड़ लगा दी। पत्थर की या काँटो की एक दीवार कर दी ताकि आने वाले पशु या व्यक्ति उसे उखाड़े नहीं, नष्ट नहीं करें। इससे विपरीत दृष्टांत लें– सड़कों पर कई बार हम देखते हैं कि बाड़ के भीतर एक पौधा लहलहा रहा है। संयोग की बात, एक जंगली पौधे की नजर उस पर पड़ी तो कहने लगा अरे वाह, तुम्हारे मालिक का तुम पर जरा भी विश्वास नहीं है जो तुम्हारे चारों ओर पिंजरा लगा दिया ! वह नन्हा पौधा भी उसकी बातों में आ गया। हाँ सच ही तो है, मालिक ने मुझे क्या समझा है ? मैं ताजी स्वच्छ हवा भी नहीं ले पा रहा हूँ। सुरसुरी छोड़ने वाले सुरसुरी छोड़ जाते हैं पर फल दूसरे को भोगना पड़ता है। अस्तु, पौधे को भी सही दिशा बोध नहीं मिला था। मैं बाड़े–बंदी में नहीं रह सकता उसने सोचा और माली से कह दिया– मैं इस घेरे में नहीं रहूँगा। माली ने उसे बहुत समझाया पर वह अपने निर्णय पर अटल रहा। उसने कह दिया– मैं स्वतन्त्रता चाहता हूँ। सुरक्षा की बाड़ हटा दी गई। थोड़े ही समय में उस पौधे की क्या स्थिति बनी होगी आप समझ सकते हैं। प्रभु ने कहा हैं–

परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा वावि।
वावण्ण कुदंसण वज्जणा य सम्मत्त सद्दहणा॥

उत्तराध्ययन सूत्र 28/28

सम्यक्त्व के चार श्रद्वान हैं। जैसा कि ज्ञानी जनों ने भी बताया है। ये जीवन को, संस्कारित करने के लिए तथा उसकी सुरक्षा के

लिए हैं। इनमें दो विधि परक हैं और दो निषेध परक हैं। निषेध भी विधि रूप में है। जो परमार्थ के ज्ञाता हैं वे जानते हैं कि जो परम् अर्थ है वही परमार्थ है। मोक्ष परमार्थ उसका वह शुद्ध स्वरूप है जिसने अपने स्वभाव को अर्थात् धर्म को प्राप्त कर लिया है। धर्म आत्मा का स्वभाव है, वह जिसमें प्रकट हो जाय, जिसमें प्रस्फुटित हो जाय वह उसका संस्थव करे। प्रभु ने यह नहीं कहा कि मेरे नाम का संस्थव करो। जिसने भी परम् अर्थ को प्रकट कर लिया है, उसकी चाहे कोई निन्दा करे या प्रशंसा, उसका संतुलन नहीं बिगड़ता है। यदि किसी का संतुलन बिगड़ रहा है तो उसका परिचय या गुणानुवाद करने के लिये नहीं कहा गया है। तब विचार करें कि जिसने परमार्थ प्राप्त कर लिया है उसकी प्रशंसा से क्या होगा ? प्रशंसा से वह खुश नहीं होगा। बल्कि स्वयं अपने भीतर परमार्थ उतारेगा। हमारे भीतर भी परमार्थ का वही स्रोत प्रादुर्भूत होगा, जिसकी अनुभूति अनिर्वचनीय होती है। वह आनंद की गहन अनुभूति होगी। परमार्थ का परिचय करने से अपने भीतर उसका अटका हुआ स्रोत बहं निकलेगा। अतः ऐसे की सेवा उपासना अपनी सेवा उपासना है।

एक व्यक्ति आग के पास बैठता है तो उसे गरमास मिलेगी, तालाब के पास बैठने वाले को ठंडक मिलेगी। लेकिन जो व्यक्ति गटर के पास बैठेगा और जो फूलों के रमणीय उद्यान में टहलेगा उन्हें कैसी अनुभूति होगी यह बताने की आवश्यकता नहीं। जिसने परमार्थ को प्रकट कर लिया है उसकी सेवा करने से वे शीतल फुहारें मिलेंगी। भगवान् के समवशरण में पहुँचने पर परमार्थ का झरना प्रकट होता है , अणु–अणु से वह निर्झरित होता है। तब वहाँ हवा भी वैसी ही प्रसृत होगी और वहाँ का वातावरण भी परमार्थमय होगा, जो वहाँ बैठने वाले को शांत समीर से आप्लावित कर देगा।

बचाव के लिए भी दो बातें और बताई गई हैं। जिन्होंने परमार्थ का वमन–त्याग कर दिया, उन्हें भी कई बार असंस्कारित जीवन

स्वीकार करना पड़ता है। होता यह है कि कभी–कभी परमार्थ प्रकट होता है पर प्रज्ञा परिषह, ज्ञान परिषह से वह हार जाता है और वह अज्ञान से आवृत हो जाता है। परमार्थ के झरने की राह में पत्थर आ जाते हैं, प्रवाह बंद हो जाता है। झरना रूका कि असंस्कारित अवस्था बनीं। झरना रूका कि ज्ञानावरणीय का प्रभाव और उसके साथ ही दर्शनावरणीय का प्रभाव प्रगाढ़ हो जाता है। और फिर सम्यक्त्व मोहनीय की कांक्षा में प्रविष्ट होता हुआ ध्वजा की तरह अस्थिर बना हुआ मिथ्यात्व में पहुँच जाता है। ऐसे व्यक्ति से बचने के लिए कहा गया है– घर का भेदी लंका ढ़ावे। जिसने स्वयं को अंधकार में पहुँचा दिया है, तो अपने आपको, पूर्व स्थिति को तिरोहित करने की स्थिति में पहुँच गया है, उससे परिचय करने पर वह दूसरों में भी अंधकार पैदा करेगा। इसी प्रकार जिसने परमार्थ का वमन–त्याग कर दिया है वह दूसरे को भी उधर ले जायेगा। कवि कह रहा है– शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी। प्रभु को जिनपति कहा गया है। वे तीन लोक के प्राणियों के स्वामी हैं। जिसने उन्हें छोड़ दिया वह परित्यक्ता है। उससे परिचय करने पर पति की बुराई ही सुनने को मिलेगी। इसलिए उससे दूर रहना है। इसी प्रकार जिसकी दृष्टि अभी तक सही हुई नहीं है, उनके साथ बैठना–उठना, आलाप–संलाप नहीं करना है। वे जो स्वयं अंधकार में हैं दूसरों को प्रकाश कैसे देंगे ? यदि जीवन को संस्कारित करना है तो प्रमाद में गाफिल मत होओ। चूहा सोचता है अरे–मैं बलवान हूँ बिल्ली मेरा क्या कर लेगी ? अरे, आगे बढ़ तो सही, मालूम पड़ जायेगा तू कितना बलवान है। कब बिल्ली आ जायेगी, गटका कर जायेगी पता भी नहीं चलेगा। चूहा कह सकता है मैं होशियार हूँ पर होशियारी पड़ी रह जायेगी।

तनिक विचार करें कि तीर्थंकरों ने साधु जीवन की मर्यादा, त्याग, नियम क्यों बनाये हैं। कारण यह है कि वे चाहते हैं कि जीवन में जो संस्कारों की पौध फूटी है वह सुरक्षित रहे, प्रकाश की सुरक्षा

हो, वह स्रोत जो प्रकट हुआ है उससे शीतलता बढ़ती जाये। भगवान की प्रार्थना करते हुए कहा गया है– प्रभु तुम्हारे भीतर जो झरना प्रकट हुआ है वह मेरे भीतर भी प्रकट हो। अभी तो केवल सूराखें पैदा हुई हैं, जिन्हें गहरा खोदा जाना है। तब ही सुराखों से पानी बूंद–बूंद झरेगा और कुआँ भर पायेगा। यदि उन सुराखों को बंद कर दिया गया तो कुआँ सूख जायेगा। अपने भीतर के कुएं में शीतल झरने को प्रकट करना है तो मा पमायए– प्रमाद में मत पड़ो। पड़ गए तो कुआं सूख जायेगा जीवन असंस्कारित रह जायेगा। संस्कार नहीं तो भले बुरे की पहचान भी नहीं कर पाओगें। आँखें होते हुए भी सही निणर्य नही ले पाओगे। इसलिये प्रभु की प्रार्थना करते हुए शीतलता प्राप्त करने का प्रयास करो। मैं कह गया हूँ कि सुख की कामना वाले कम हैं, दुःख चाहने वाले ही ज्यादा हैं। विचार कीजिये कि एक व्यक्ति की बीस बार प्रशंसा की तो उसे उतना सुख नहीं होगा जितना दुःख तब होगा जब एक कटु शब्द उसे कह दिया जायेगा। यदि सुख की कामना होती तो एक कटु शब्द से भले ही दुःख होता तो भी उसके पास 19 बार का सुख तो शेष होता। अतः उसे सुखी रहना चाहिए था पर ऐसा नहीं होता। अर्थात् वह सुख नहीं चाहता ! अब आप ही बताओ वह क्या चाहता है ? आप कहोगे "चावां तो सुख ही पण पता नहीं दुःख कठे से आ जावे।"

एक बार पाण्ड़वों ने भोज का आयोजन किया। भीम भी परोसगारी कर रहे थे। एक व्यक्ति ने परोसगारी के लिए उनका पल्ला पकड़ा। भीम ने कहा– आपका अभी तक पेट नहीं भरा क्या मैं पांच–छः बार मिन्नत करके परोस गया हूँ। पांच–छः बार परोसने पर सुख हुआ हो या नहीं, पर एक बार कह दिया कि पेट नहीं भरा क्या, तो उस समय क्या करोगे ? उठ कर खड़े हो जाओगे या बैठे रहोगे, या हो हल्ला मचा दोगे। दुःख की चाह है तभी तो उसे जल्दी पनाह देते हो। पत्थर आड़े आ जायेंगे। सुख की कामना है तो अप्रमत्त

बनों। सुख की कामना की गई तो दुःख भुगतना पड़ेगा। दुःख की कामना तो होती नहीं। अतः सन्तुलन बिगड़ने मत दो। शीतलनाथ भगवान् में करूणा, कोमलता, कठोरता, तीक्ष्णता आदि परस्पर विरोधी धर्म होते हुए भी उनकी वीतरागता इसलिये सुरक्षित रहती है क्योंकि उन्होंने ऐसा संतुलन प्राप्त कर लिया होता है। ये किंचित गहन बातें हैं। अतः समझने की कोशिश करें। हम क्षमापना का स्वरूप भी समझें। औपचारिक रूप से क्षमापना उचित नहीं। क्षमापना वह है जिसके बाद परस्पर आह्लाद–भाव पैदा हो। संवत्सरी निकलने पर भी क्षमापना नहीं की जाती तो समकित टिक नहीं पाती। प्रमाद जीवन को रसातल में ले जाने वाला है। प्रमाद को छोड़ो, परमार्थ का स्रोत्र स्वतः प्रवाहित होगा। सुरक्षा की बाड़ में स्वयं को सुरक्षित करलो, कहीं कोई दुष्प्रवृत्ति छेड़–छाड़ न कर दे। उसके प्रभाव में आ गये तो संस्कार की पौध तहस नहस हो जायेगी। परमार्थ तत्वों को आश्रय दो तो फिर उस परम अर्थ जिसे मोक्ष कहते हैं, जो सत्य, शाश्वत स्थान या अव्याबाध सुख है, उसे प्राप्त कर सत्–चित्त–आनन्दमय स्वरूप में लीन हो पाओगे। ००



दि. 03.10.96

9. सुसंस्कार : परम धन

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे।।

सर्व जन्तु हितकरणी करूणा कर्म विदारण तीक्ष्ण रे।
हान-दान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षण रे।।

शीतल जिनपति की प्रार्थना करते हुए कवि आनंदघनजी मुग्ध हो जाते हैं। इस मुग्धावस्था में वे जब परमात्मा के विविध गुणों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तब वे गुण उनके चित्त पर अंकित हो जाते हैं और वे गा उठते हैं– "शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी...।" उन गुणों के प्रति अनुरक्त उनका मन उन गुण रूपी पुष्पों के इर्द–गिर्द भौरें की भांति मंडराने लगता है और जो मकरन्द वह पाना चाहता है, वह मकरन्द वे ललित गुण हैं जिन्हें उन्होंने त्रिभंगी नाम दिया है। ये तीन भंग हैं– करूणा, तीक्ष्णता और उदासीनता।

इन शब्दों का अर्थ करें तो तीक्ष्णता का अर्थ है तीखापन। कठोरता और उदासीनता का स्वरूप भी कवि ने स्पष्ट किया है। हम विचार करें कि प्रभु में भी उदासीनता संभव है ? यदि हाँ तो इस उदासीनता की प्रकृति पर विचार करें।

सांख्य मत में पुरूष को उदासीन बताया गया है। सांख्यों ने प्रकृति और पुरूष को स्वीकार किया है। जैन दर्शन जीव और अजीव कहता है। वेदान्त में ब्रह्म और माया कहा गया है। इन सभी वृत्तियों के भिन्न–भिन्न आयाम हैं। पर यदि गहराई से देखें तो यह स्पष्ट होता है कि सभी ने दो तत्वों को माना है क्योंकि अकेला शुद्ध तत्त्व सृष्टि रचना में सक्षम नहीं है। जब दो तत्व किसी निश्चित अनुपात में मिलतें हैं तब कोई नयी संरचना करतें हैं। जैसे हाइड्रोजन और

ऑक्सीजन किसी निश्चित परिमाण में मिलकर पानी में परिणत हो जाते हैं। वैसे ही दो तत्व चाहे उन्हें जड़–चेतन कहें चाहे प्रकृति–पुरूष कहें एक भिन्न रचना को संभव बनाते हैं, यद्यपि सांख्य दर्शन पुरूष को प्रकृति से सर्वथा उदासीन मानता है।

कवि आनन्दघनजी स्पष्टीकरण करते हुए कह रहे हैं– हाना–दान रहित परिणामी। प्रभु में गुण जरूर हैं और वे परिणाम रहित भी नहीं हो गये हैं। यह पाटा या सामने वाली दीवार इस तथ्य से पूर्णतः तटस्थ हैं कि दुनिया में क्या हो रहा है। ये पूर्ण उदासीन हैं। इन्हें कोई मतलब नहीं दुनिया से। इनमें राग–द्वेष, शुभ–अशुभ के भाव भी नहीं बन रहे हैं इनसे कोई अंतर नहीं आता हैं। कवि कहते हैं कि हम उदासीनता का भाव कूटस्थ, नित्य या जड़ के रूप में ग्रहण नहीं करें। वैशेषिक दर्शन मानता है कि जब आत्मा पूर्ण विकास या मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करता है तब उसका ज्ञान, सुख आदि से कोई संबंध नहीं रह जाता। लेकिन कवि की मान्यता ऐसी नहीं है क्योंकि जिसकी परिणाम रहित अवस्था है, वह वस्तुतः सत् नहीं है। जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में परिणमन स्वीकार किया गया है– उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। ये तीन अवस्थाएँ स्वीकृत हैं तब निश्चित है कि परमात्मा या सिद्ध में भी परिणमन होता है। कवि ने उसी परिणमन या उदासीनता को स्पष्ट किया है। करूणा, तीक्ष्णता और उदासीनता परस्पर विरोधी गुण हैं। करूणा और कठोरता प्रवृत्ति के प्रतीक हैं और उदासीनता निवृत्ति की। प्रवृत्ति–निवृत्ति दोनों एक [illegible] हो सकते हैं? स्पष्टीकरण किया गया है– सर्व जन्तु हित [illegible]। प्रभु के भीतर करूणा का निर्झर या स्रोत बह रहा [illegible] प्राणी को आत्मतुल्य मानकर करूणा भाव की [illegible] भूयाद् पाशओ।

[illegible] को आत्मा के तुल्य मानना करूणा भाव का [illegible] सकता है कि प्रत्येक के साथ

करूणा–भाव जोड़ने से पूर्व सबसे पहले अपनी आत्मा पर करूणा की जाये। अपनी आत्मा पर करूणा का तात्पर्य क्या है ? क्या आप अपने आप पर करूणा करते हैं ? यदि प्राणी सबसे ज्यादा किसी का उपघात करता है तो अपनी आत्मा का। जब तक अपनी आत्मा पर उपघात नहीं होगा वह दूसरे पर भी आघात नहीं करेगा। जब कोई व्यक्ति किसी की हत्या करता है तब सबसे पहले हत्या के विचार उसके भीतर अंकित होते हैं, उसके भीतर हत्या का नक्शा बनता है। इस प्रकार वह पहले अपनी चेतना पर आघात करता है फिर बाहर आघात होता है। इसी प्रकार करूणा का भाव सबसे पहले अपनी आत्मा के लिए उद्‌भूत होता है। आत्मा के प्रति अनुकम्पा के विचार बनते हैं तो अशुभ अध्यवसाय एवं मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्तियों की ओर गति रूकती है और शुभ में प्रयाण हेतु तत्पर होती है। यदि हमने अपनी आत्मा की अनुकम्पा कर ली तो फिर दुनिया के किसी भी प्राणी का बुरा हम नहीं करेंगे। मनोविज्ञान भी मानता है कि अपराध को रोकना है तो अपराध भाव को रोको। पर प्रभु महावीर इससे भी ऊँचा सिद्धान्त देते हैं। वे कहते हैं– मित्ति में सव्व भूएसु , जहाँ कोई दूसरा हो ही नहीं, वहाँ अपराध कौन और किसके प्रति करेगा ? स्थानांग में भी कहा गया है 'एगे आया'। वेदान्त कहता है– 'एगोहं' बात एक ही है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अलग अलग कोण से उसे देखता है। केवल एक ही कोण से देखने वाले को वहां अलगाव या भिन्नता दिखेगी। इसे एक दृष्टांत द्वारा समझें। एक राजा ने कई चित्रकारों को एकत्र किया और कहा– मेरी एक सत्य यथार्थ और सुन्दर तस्वीर बनाओ। जो तीन बड़े माने हुए चित्रकार थे, उन्होंने राजा का चित्र बनाने की तैयारी की। वे चित्र बनाकर यथासमय उपस्थित भी हुए। पहले चित्रकार ने चित्र उपस्थित किया। देखते ही राजा की त्यौरियाँ चढ़ गई, गुस्सा आ गया। राजा ने कहा– तुमने चित्र में यथार्थ तो अंकित किया पर यह सुन्दर नहीं है। वास्तव में राजा काना था, चित्रकार ने वैसा ही अंकित कर दिया था। यथार्थ तो

था पर सुन्दर नहीं था क्योंकि उससे राजा का अपयश फैलता। दूसरा चित्रकार उपस्थित हुआ। उसने चित्र में राजा की दोनो आंखें अंकित की थी। राजा ने कहा– तुम चापलूस हो, सुन्दर दिखाने के लिए तुमने यथार्थ को छोड़ दिया। यथार्थ नहीं हाने पर भी यथार्थ में घटित करना चापलूसी है। तुमने कला के साथ न्याय नहीं किया है। राजा ने दोनों को यथायोग्य दण्ड दिया। तीसरे चित्रकार ने भी चित्र प्रस्तुत किया। उसे देखकर राजा मुग्ध हो गया और उस चित्रकार को बहुत सा इनाम दिया। उसने यथार्थ को सुन्दरता से उकेरने का प्रयत्न किया था। क्योंकि उसके मुख के एक पक्ष का ही चित्रण था, इसलिये दूसरी आँख को, जिससे वह काना था, दिखाने की आवश्यकता ही नहीं थी। उसने राजा का शिकार खेलते हुए, घोड़े पर बैठे दृश्य का अंकन किया था जिसमें राजा की एक ही आँख दिखाई गई थी। दूसरी चित्रित ही नहीं की गई। इस प्रकार कटु यथार्थ के चित्रण से उसने स्वयं को सुन्दरता पूर्वक बचा लिया था। अस्तु, कवि कह रहे हैं कि आत्मा की अनुकम्पा से परमात्मा में वास्तव में तो करुणा का निर्झर बह रहा है। परन्तु करुणा के साथ उन्हें कठोर भी बनना है, तभी वे अनुकम्पा कर पाएंगे। कठोर बनने की बात– 'कर्म विदारण तीक्ष्ण रे' अर्थात् कर्म–विदारण करने के लिए, शत्रु का हनन करने के लिए, कठोरता की, तीक्ष्णता की जरूरत होती है। कवि प्रभु के इन गुणों का चिन्तन करते–करते मुग्ध हो गया है और गा उठता है–

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी
विविध भंगी मन मोहे रे॥

[illegible] जिनपति हमारे ऊपर कृपालु हों इसके लिये यह [illegible] प्रसाद [illegible]। क्योंकि हमारा जीवन असंस्कारित [illegible] कठोरता में भी रहे। परन्तु कठोरता में भी [illegible] आत्मा के गुण ही नष्ट हो जायें। कठोरता [illegible] अनुकम्पा के लिए सहायक हो, अनुकम्पा को

रोकने वाली न हो। करूणा की जो धारा प्रकट हुई हो उसे अवरूद्ध करने की स्थिति में न ले जायें। प्रभु की तीक्ष्णता उन धाराओं को रोकने वाली नहीं बल्कि विशेष रूप से प्रवाहित करने में सहयोगी है।

कवि ने कहा है– प्रभु आपकी करूणा भी अजब है, कठोरता भी गजब की है। मिश्री कठोर होती है पर उसमें माधुर्य होता है, चरकापन नहीं। उसका माधुर्य ही अंतर तक पैठने वाला होता है। प्रभु की कठोरता भी वैसा ही माधुर्य देने वाली है। जब हम प्रभु के गुणों का चिन्तन करते हैं तब अपने भीतर की असंस्कारित अवस्था का हमें बोध होता है। एक व्यक्ति एम.ए. पास कर चुका है पी. एच. डी. की उपाधि भी उसने प्राप्त कर ली है तो क्या इसी से वह संस्कारित माना जाये ? प्रभु ने कहा है– मात्र अध्ययन कर लेने से कोई संस्कारी नहीं हो जाता। जो अपनी चित्त वृत्तियों का गुलाम है, जिस पर उसकी चित्त वृत्तियां हावी हैं, वह असंस्कारित ही है। इसी बात को अनाथी मुनि के माध्यम से समझें। अनाथी मुनि ने जब कहा– 'राजन् तुम अनाथ हो।' तो क्या राजा के पास आधिपत्य नहीं था ? नही! बल्कि वहां चित्त वृत्तियों का उन पर आधिपत्य था। इस प्रकार वे चित्त वृत्तियों के दास थे। दास नाथ कैसे हो सकता है? अनाथ–सनाथ का भेद नहीं किया तब तक नाथ बनकर नहीं चल सकते। आपने शालिभद्र का नाम सुना होगा। नाम सुनते ही एक भावना उत्पन्न होती है– दीपावली का खाता लिखना है– तो लिखा जायगा– शालिभद्र तणी रिद्धि। रिद्धि नहीं तो कौन पूछता है ? आप रिद्धि के कारण पूछे जाते हैं पर ज्ञानी जन रिद्धि को ठोकर मारने के कारण पूछे जाते हैं। जिस पुण्य की प्रकर्षता का जो योग था वह पुण्य कैसे अर्जित किया ? दान दिया था सुपात्र को, कितनी भावना से। हमारा पुण्य की ओर कितना रूझान है ? वे महलों में थे तो यह भी नहीं मालूम था कि पूर्व किधर है और पश्चिम किधर ? सूर्य के उदय अस्त का भी पता नहीं था। आज भी कई व्यक्तियों को

उदय–अस्त का पता नहीं रहता, चाहे दिन हो या रात, कभी भी खा–पी लेते हैं। बस खाने–पीने का ही ध्यान रहता है। जो प्रत्याख्यान करते हैं उन्हें तो ज्ञान रखना होता है। हाँ तो शालिभद्र की माता ने संदेश दिया जागृत हो, सम्राट श्रेणिक पधार रहे हैं। उत्तर मिला– मां मेरी क्या जरूरत है ? मोल–भाव करके खरीद लो। "वे तो व्यापार के चक्कर में भी नहीं पड़े थे। आज तो व्यक्ति व्यापार के चक्र में ही दिन–रात घूमता रहता है। माता ने कहा– नाथ आये हैं। सुनते ही करन्ट लगा– आज तक तो सभी मुझे नाथ कहते थे, मेरी धर्म पत्नियां, दास–दासियां सभी। पर आज माता किसे नाथ कह रही हैं? वे नाथ हैं तो लगता है मेरी पुण्यवानी में कसर है। इसलिए वे नाथ हैं। मैं नाथ बनूंगा। प्रभु कह रहे हैं– असंस्कृत जीवन है, प्रमाद मत करो। चित्तवृत्ति हावी होकर प्रमाद में घसीट लेगी तो उचित–अनुचित का विवेक भी नहीं रहेगा। जीवन गर्त में चला जायेगा। बोध जागा, प्रमाद हटा तो चित्तवृत्तियों को हल्का सा आभास होगा। आभास हुआ तो फिर हम इन्हें पछाड़ कर आत्म भाव में, नाथ भाव में उपलब्ध हो सकते हैं, संस्कारित बन सकते हैं। जो वृत्तियों के दास हैं वे संस्कारित नहीं हैं।

एक प्रायवेट कॉलेज में उम्र से परिपक्व प्रिंसिपल थे। वैसे उम्र आ चुकी थी पर प्रायवेट संस्था थी अतः रिटायर नहीं हुए थे। यदि सरकारी संस्था होती तो तो अब तक रिटायरमेन्ट हो चुका होता। वे क्षमतावान थे, शरीर से नहीं बल्कि विल–पावर से,। कमेटी का कोई भी सदस्य सहसा उनके सामने बोलने का साहस नहीं कर पाता था। प्रोफेसरों ने सोचा/विचार किया कि इनकी वजह से किसी को प्रमोशन का चांस ही नहीं मिल रहा है। ये हटें तो दूसरों का भी प्रमोशन हो ! पर सब बेबस थे। गुपचुप बातें होने लगी । प्रस्ताव किया गया कि इन्हें कुर्सी से हटाना चाहिए, कुछ प्रोफेसरों ने मिलकर प्रस्ताव पास कर लिया। एक प्रोफेसर जो काफी पुराना था

और प्रिंसिपल के पश्चात् जिसके प्रमोशन का चांस था, उससे भी मिलकर प्रलोभन दिया गया – यदि प्रिंसिपल को हटा दें तो सत्ता हमारे हाथ होगी और आपको प्रिंसिपल की कुर्सी पर बिठाया जायेगा। वह भी उनके साथ हो गया। योजना बनाई गई। दूसरे दिन सभी ने एक साथ आकर प्रिंसिपल के कमरे का ताला तोड़ा और प्रिंसिपल की कुर्सी पर उस प्रोफेसर को बिठा दिया। किसी हित चिन्तक व्यक्ति ने सलाह भी दी थी, देखो ऐसा मत करो तुम सफल नहीं हो सकोगे, तुम्हारी कमजोरियां सभी बखूबी जानते हैं। उन्होंने एक न सुनी। चपरासी ने यह सब देखा तो प्रिंसिपल महोदय को फोन पर सूचना दे दी कि ऐसी–ऐसी बात हुई है। उन्होंने कहा– कोई बात नहीं है और वे तो अपने प्रतिदिन के निश्चित समय 11 बजे कॉलेज पहुँचे। अपने रूम की ओर बढ़े और शान से प्रवेश किया। प्रोफेसर को ध्यान रहा नहीं, झट उठा और नमस्कार करते हुए कहा, सर विराजिये। प्रिंसिपल ने कुर्सी सरकाई और बैठ गये। वह प्रिंसिपल बना प्रोफेसर अन्य कुर्सी पर बैठ गया। मित्रों ने प्रिंसिपल से कहा कि इन्होंने तोड़–फोड़ की और आपने सूचना नहीं दी। प्रिंसिपल ने कहा– इनके लिए सूचना की जरूरत नहीं, मैं अकेला ही काफी हूँ। वे अपनी कुर्सी पर बैठ गये। यह तो सत्य रूप में घटित घटना है और हमारी आँखें खोलने वाली है। जैसा जबरदस्त प्रिंसिपल का विल–पावर था वैसे ही यदि हमारा विल पावर भी बने तो चित्तवृत्ति हम पर हावी नहीं हो सकेगी। परिणामस्वरूप जीवन भी संस्कारित हो सकेगा। यथार्थ में विल पावर मजबूत होगा तो विचार सही दिशा में बढ़ेंगे। इसलिये यदि जीवन को संस्कारित करना है तो वृत्तियों से ऊपर उठो।

संस्कारों पर क्षेत्र का भी प्रभाव पड़ता है। एक महात्मा एक गांव में पहुँचे, पांच–सात दिन रूके। धर्मोपदेश दिया। जब वे विहार करने लगे तो गांव वाले पहुंचाने आये। गांव की सीमा पर पहुँच कर सबने नमस्कार किया और कहने लगे–"महात्मन् जाते–जाते कुछ

आशीर्वाद दे जाइये।" महात्मा ने कहा–'तुम सब बिखर जाओ, उजड़ जाओ।' महात्मा तो चले गए पर वे मन ही मन विचार करने लगे। कैसे महात्मा थे जो ऐसा आशीर्वाद दिया ? महात्मा अगले गांव में पहुँचे। वहां भी कुछ दिन रूकना हुआ। पूर्व गांव वाले भी दर्शनार्थ पहुँचे। महात्मा का विहार हुआ, दोनो ग्राम वासी पहुँचाने चले । ग्राम सीमा पर उन्होंने भी निवेदन किया– गुरूदेव आशीर्वाद देकर पधारिये। महात्मा ने कहा–'तुम सब बसे रहो।' अरे ये महात्मा अजीब हैं, पूर्व गांव–वालों ने सोचा , हमें तो कहा उजड़ जाओ और इन्हें कहते हैं 'बसे रहो।'

उनमें एक सभ्य व्यक्ति था जो संस्कारित था । पढ़ा लिखा तो नहीं था, किन्तु चित्तवृत्तियों की उसकी गुलामी हट चुकी थी । उसने कहा– 'तुम लोग संशय मत करो। संशय से श्रद्धा भ्रष्ट होती है। समाधान कर लो। समाधान नहीं किया तो न इधर के रहोगे न उधर के। सबको बात जच गई। महात्मा जब आगे के गांव में पहुँच कर बैठे तो निवेदन किया– भंते ! हमारी एक जिज्ञासा है और उन्होंने अपना प्रश्न रख दिया। महात्मा के चेहरे पर मुस्कान के साथ गंभीरता झलकने लगी। कहने लगे– देवानुप्रिय, मैंने जो बात कही है वह 'सर्व जन्तु हित करणी करूणा' इस भाव से कही है। आप जानतें हैं कि तीर्थंकर भी करूणा से ही उपदेश देते हैं। उसमें जो कठोरता होती है तो वह भी करूणा के पोषण के लिए ही होती है। इसलिए मैंने कहा– उजड़ जाओ। तुम सोचोगे उजाड़ने की बात और करूणा ? यह कैसे संभव है ? मैंने देखा तुम्हारे गांव में सो सेणों का एक मत– प्रत्येक व्यक्ति सजग है। तुम उजड़ कर जहां भी जिस गांव में भी जाओगे, अपनी सुवास ही फैलाओगे। सौ व्यक्ति भी बिखरे तो सौ गांवों को संस्कारित करोगे। लेकिन इस गांव में संगठन नहीं है, प्रतिदिन झगड़े होते हैं। मैने देखा इस गांव में कलह की स्थिति है तो यह आग अन्यत्र न फैले। एक घर की आग उसी को बरबाद

करेगी। अन्य गांव तो सुरक्षित रहेंगे। इसलिए ये एक जगह बसे हुए ही ठीक हैं। लोगो ने विचार किया कि गुरूदेव ने तो कितना अच्छा आशीर्वाद दिया था पर हमें बोध नहीं हुआ। समाधान लिया तो वह हितकारी हो गया। इसके विपरीत यदि मन में ही अहं होता तो विचार कलुषित होते। वह स्थिति घातक होती।

यह बात भली प्रकार समझ ली जानी चाहिये कि संशय की स्थिति कांक्षा मोहनीय में प्रवेश करा सकती है और यदि दर्शन मोहनीय का उदय भाव हो गया तो वह आगे मिथ्यात्व में ले जायेगी। मिथ्यात्व के ५ भेद, १५ भेद और २५ भेद भी कहे गये हैं। यह भी कहा गया है कि सिद्ध की, अरिहंत की, संघ की, साधु की आशातना की तो वह मिथ्यात्व में प्रयाण कराने वाली होगी। वह संस्कार को नष्ट कर असंस्कार में प्रवेश कराने वाली होगी। संस्कार पर स्थान का प्रभाव पड़ता है और संस्कार वंशानुगत भी होते हैं। संस्कार वंश परंपरा से भी चले आते हैं। यदि हमें अपने भीतर के संस्कारों की पौध को सुरक्षित रखना है, आत्मा को परमात्मा की ओर बढ़ाना है तो प्रमाद छोड़ना होगा। इसके साथ ही प्रभु न कहा है–

खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए।

उत्तराध्ययन सूत्र 1/9

क्षुद्र लोगों के साथ संसर्ग नहीं करना चाहिए, न उनके साथ हंसी मजाक एवं कीड़ा करना चाहिए। क्योंकि ओछी साख वाले के साथ बैठने से ओछे संस्कार आयेंगे और उन्नत साख वाले के साथ उन्नत संस्कार आयेंगे। यह प्रभु का निर्देश है।

एक पंडितजी जा रहे थे। मार्ग में एक व्यक्ति मिला, वह भी साथ हो गया। पंडित जी ने सोचा एक से भले दो, रास्ता कट जायेगा। मार्ग में पंडितजी ने कहा–'ये पलास के फूल हैं। रूप में सुन्दर पर गुण नहीं।' साथ वाला कहने लगा–'यह पलास नहीं गुलाब है।' पंडितजी ने कहा–'गुलाब कांटों में होता है यह पलास ही

है।' उस व्यक्ति ने डंड़ा उठाया– मैंने कह दिया यह गुलाब है बोलो है कि नहीं। पंडित जी ने जान बचाना आवश्यक समझा और कहा 'अच्छा भाई ! गुलाब है।' यदि ऐसी संगति कर ली तो 'हाँ' में 'हाँ' मिलानी पड़ेगी। चित्तवृत्तियाँ हावी हो जावेगी, चेतना उजागर नहीं होगी। जीवन संस्कारित था अर्हन्नक श्रावक का। देव का भयंकर उपसर्ग– 'एक बार कह दे– धर्म झूठ है, नहीं तो इस जहाज के टुकड़े–टुकड़े कर दूँगा।' उसने जहाज को आकाश में उठा लिया– "देखो माल चला जायेगा, तुम समुद्र में समा जाओगे।" साथ वालों ने कहा– कह दो कहने में क्या लगता हैं ? हाँ कोई ऐसा भी सोच सकता है कि एक बार कह दें फिर मिच्छामि दुक्कड़ं दे देंगे। पर अर्हन्नक दृढ़ धर्मी था। उसने कहा –पुद्‌गलों के पीछे देव–गुरू–धर्म की अवज्ञा ? अरे पुद्‌गल तो विनाशधर्मी हैं। देव–गुरू–धर्म अविचल हैं। पुद्‌गल तो छाया है। तन रहा तो छाया दौड़ी आयेगी। मैं अविचल रहूँगा। वह ऐसा इसलिये कह सका, मृत्यु के भय में भी अविचल इसलिये रह सका, क्योंकि उसका जीवन सुसंस्कारों से युक्त था। ऐसे सुसंस्कार विकसित करना, उन पर दृढ़ रहना और पुद्‌गलों के परिणामों को समझ कर आत्मकल्याण हेतु तत्पर रहना, इस जीवन का इष्ट होना चाहिये। यह जीवन हमें इसलिये मिला है कि इसे सुसंस्कारों से सुसज्जित कर मोक्ष का माध्यम बना सकें।OO

दि. 04.10.96



10. सच्ची करुणा का स्वरूप

शीतल जनपति लसित त्रिभंग्नी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रे।।

भगवान शीतलनाथ करूणा के अजस्र स्रोत हैं। उनकी विविध भंगी, सर्वजन्तु हित करणी, पर दुःख छेदन करणी वह करूणा सभी का मन मोह लेती है। ऐसे उपकारी जिनपति के प्रति अपने श्रद्धाभाव को प्रार्थना की कड़ियों में बाँध कर कवि आनन्दघनजी कहते हैं–

शीतल जनपति लसित त्रिभंग्नी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रे।।

सर्व जन्तु हितकरणी करूणा, कर्म विदारण तीक्षण रे।
हान दान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षण रे।।

तनिक चिन्तन करें कि कवि ने कितने अर्थगर्भित शब्दों का चयन किया है। जिनपति की करूणा को पर दुःख छेदनकारी वृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। तनिक विचार करें कि हम करूणा किसे मानते हैं।

कहा जाता है– दूसरे के दुःख को दूर करना करुणा है। एक व्यक्ति दुःखी हो रहा है, उसके दुःख का कारण है मन की इच्छा अथवा अभिलाषा का पूर्ण नहीं होना। तो क्या उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति करना अनुकम्पा है ? एक व्यक्ति किसी अन्य को अपना शत्रु मान रहा है, वह कहता है इसके रहते मैं दुःखी हो रहा हूँ, अतः इसका नाश हो जाय। तो क्या परमात्मा चाहेंगे कि उसका दुःख दूर करने के लिए, उसके शत्रु का वध कर दिया जाय ? तो फिर उस अन्य व्यक्ति को जो दुःख हुआ है, उसकी जो आर्त पुकार है उसे कैसे पूरा किया जा सकेगा ? इस स्थिति पर किंचित विस्तृत परिपेक्ष में विचार करें।

व्यक्ति दुःखी क्यों है, दुःख का कारण क्या है ? दुःख के अनेक कारण हो सकते हैं, पर मूल कारण है– व्यक्ति 'पर' से दुःखी होता है। अपने पड़ोसी को बहुत संपन्न देखा, दूसरे व्यक्ति को अपने से आगे बढ़ा हुआ देखा, तो व्यक्ति दुःखी हो गया। ये सारे भले ही व्यक्ति की दृष्टि से दुःख के कारण हो, पर प्रभु ने इन्हें दुःख नहीं कहा है। तीर्थंकरों ने कहा है– दुःख का मूल कारण है तुम्हारा असंस्कारी जीवन। इस असंस्कारी जीवन के कारण ही तुम दुःख के मूल स्रोत को नहीं पहचान पा रहे हो। यदि उसे पहचानना है तो खोज करो कि यथार्थ में दुःख का मूल स्रोत कहाँ है। कवि ने उसी स्रोत को उद्घाटित करते हुए कहा है– 'पर दुःख छेदन इच्छा करुणा अर्थात् पर द्वारा जो दुःख उत्पन्न हुआ है उसका छेदन करने की इच्छा जागृत होना यही करूणा है। 'पर' कौन है ? हम 'पर' मानते हैं दूसरे व्यक्ति को, पड़ोसी को, शत्रु को। संक्षेप में कहें तो आत्मा से भिन्न जो भी पदार्थ हैं अथवा जिन कारणों से आत्मा दुःखी है उन्हें हम 'पर' मान लेते हैं। परन्तु मुख्य कारण हैं हमारे कर्म। इस प्रकार कर्मों को दुःख की संज्ञा दी गई है। कर्मों का जब तक औदयिक भाव है व्यक्ति दुःख में रहेगा। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या साता वेदनीय रूप पुण्य प्रकृति के उदय से व्यक्ति सुखी नहीं होते हैं ? उत्तर है, साता वेदनीय भी उसे सुखी नहीं बना सकते। वह तो शहद–लिपटी तलवार है, जिसे चाटने पर व्यक्ति सोचता है कि सुख मिल रहा है। पर वास्तव में उसके पीछे दुःख की काली छाया छिपी होती है। वहाँ उसे सुख–शांति नहीं मिल सकती है। इस संदर्भ में नन्दी सूत्र के बुद्धि से संबंधित आख्यान पर दृष्टिपात करें।

एक राजा ने योग्य मंत्री का चयन करने के लिए कुछ परीक्षाएँ लीं । उसने एक बकरी देते हुए कहा कि इसे खिलाना –पिलाना है और इसका जीवन व्यवस्थित रखना है परन्तु, इसका वजन नहीं बढ़ना चाहिए। लोग विचार में पड़ गए कि ऐसा कैसे संभव है। पर

नन्दी ग्राम के एक बालक ने कहा–चिन्ता करने की क्या बात है मैं इसका ध्यान रखूँगा। वह बकरी को खूब खिलाता–पिलाता और फिर सिंह की खाल उसके सामने इस प्रकार स्थापित करता मानो साक्षात् सिंह सामने खडा हो। बकरी उससे भयभीत हो जाती। हालांकि वह दिन भर खाती पर भोजन का शरीर में सही परिणमन नहीं हो पाता। यद्यपि खाना–पीना उसके लिए साता रूप में था पर उसके साथ ही सिंह की छाया भी जुड़ी हुई थी जिसके कारण सुख का भाव फलित नहीं हो पाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस सुख और साता के पीछे दुःख की काली छाया है वह सुख भी दुःख है। वह सुख नहीं मात्र थोड़ी देर के लिए भुलावा है, मन का बहलावा है। डॉक्टर आपरेशन करते समय अंगों का छेदन–भेदन करता है तब क्या पीड़ा होती है ? यूं तो थोड़ा सा चक्कू लग जाये तो वेदना होती है, आपरेशन करते समय भी वेदना कम नहीं होती पर डॉक्टर बेहोशी का इंजेक्शन लगा देता है या दवा का प्रयोग कर देता जिसके कारण कि जो अंग चीरा जा रहा है वह संवेदना शून्य हो जाता है। परिणाम स्वरूप वदेना की अनुभूति मरीज को थोड़ी देर के लिए नहीं होती। दवा के प्रयोग से जिस प्रकार वेदना भूला दी जाती है उसी प्रकार साता वेदनीय या पुण्य कर्म के उदय से या क्षयोपशम से जो सुखानुभूति होती है वह थोड़े समय के लिए भुलाने या बहलाने का ही काम करती है। यदि ऐसा अल्प कालिन संतुलन न बने तो व्यक्ति पागल हो जाये। दुःख के साथ ऐसा जो थोड़ा सा सुख मिला रहता है उसी से व्यक्ति बंधा रहता है। उससे अपने को अलग करने का प्रयास नहीं करता बल्कि आगे से आगे जाल बुनता चला जाता है।

कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं कि 'पर' से जो दुःख व्याप्त हो गया है उस दुःख के छेदन की इच्छा पैदा होना ही करूणा है। ऐसी इच्छा पैदा होना भी कठिन है। क्योंकि हम में कातरता नहीं है इसलिये कोई दुःखी आया तो उसे दो रूपये पकड़ा दिए, अच्छा अब

चला जा यहां से बस, हमारी करूणा पूरी हो गई। अनुकम्पा का बस इतना ही स्वरूप नहीं है। जहाँ 'स्व' अनुकम्पा, 'पर' अनुकम्पा कही गई है वहाँ अनुकम्पा का इतना ही स्वरूप हो तो 'स्व' अनुकम्पा क्या होगी ? यद्यपि यह भी करूणा का ही रूप है क्योंकि कहा जाता है– 'दुःखी देख करूणा करो', पर सबसे पहले करूणा का उद्‌गम स्वयं के लिए होना चाहिए। यदि 'स्व' के प्रति करूणा नहीं है तो 'पर' के प्रति करूणा कैसे हो सकती है ? महाभारत का प्रसंग है। त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव पाण्डवों की ओर से संधि वार्ता हेतु दुर्योधन के पास पहुँचे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि पाण्डवों को पांच गाँव ही दे दो तो उनसे ही वे गुजारा कर लेंगे। पर दुर्योधन ने कह दिया पाँच गाँव तो क्या सुई की नोक जितनी भूमि पर भी समझौता नहीं हो सकता। अब तो जो होगा रणभूमि में होगा। तब निश्चित हो गया कि कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध होगा ही। कृष्ण ने जब देखा कि दुर्योधन मानने वाला नहीं है तो वे द्वारिका चले गये और अपने कार्य में लग गये। दुर्योधन और अर्जुन ने विचार किया कि युद्ध करना है तो मित्र राजाओं को भी आमंत्रण देना चाहिए। दुर्योधन ने सोचा कि यदि कृष्ण वासुदेव को अपने पक्ष में नहीं किया तो चाहे मेरी सारी सेना और मित्र राजाओं की सेना भी जुड़ जाय तो भी मुकाबला नहीं हो पायेगा। मुझे प्रयत्न करके कृष्ण को साथ करना होगा , तब कृष्ण के साथ ही कृष्ण की सारी सेना का सहयोग भी मुझे मिल जायेगा। अतः वह कृष्ण के पास पहुँचा। उस समय कृष्ण सोये हुए थे। दुर्योधन ने विचार किया मैं निमंत्रण देने आया हूँ , विजय की कामना से आया हूँ तो पैरो की ओर कैसे बैठूँ। अतः वह सिर की ओर ही बैठ गया। अर्जुन भी पहूँचे। देखा कृष्ण विश्राम कर रहे थे। मुझे इंतजार करना चाहिए। मन में सोचने लगे मैं तो इनके चरणों की उपासना करने वाला हूँ और कृष्ण के प्रति श्रद्धाभाव होने के कारण वे चरणों की तरफ बैठ गए। दोनों प्रतिक्षारत थे। कृष्ण जागकर बैठे तो स्वाभाविक था कि पहले सामने अर्जुन ही दीखते। अर्जुन सामने दिखे

तो कृष्ण ने पूछा अर्जुन अभी कैसे ? भगवन् जब युद्ध निश्चित है तो मैं आपकी सहायता की अपेक्षा लेकर आया हूँ । दुर्योधन ने सुना अरे बाजी तो हाथ से जा रही है। मैं भी सहायता के लिए आया हूँ, कहीं वंचित न रह जाऊँ। अतः उन्होंने भी कृष्ण से कहा मैं भी सहायता चाहता हूँ। कृष्ण पीछे मुड़े तब दुर्योधन को देखा। उन्होंने कहा जब तुम दोनों आये हो तो दोनों की सहायता करना मेरा धर्म है। पर एक बात है एक ओर मेरी सेना रहेगी और एक ओर मैं अकेला रहूँगा। इसके साथ ही एक शर्त यह भी है कि मैं शस्त्र नहीं उठाऊंगा। दुर्योधन ने विचार किया कि युद्ध में मुझे कोई मूर्ति थोडी बैठानी है, युद्ध में तो चाहिए रण बांकुरे योद्धा जो अपनी शक्ति का परिचय दे सके। उसने कहा मैं आपको कष्ट देना नहीं चाहता, अपनी सेना ही मेरे साथ कर देंवे। कृष्ण ने कह दिया– अच्छा, सेना तुम्हारे साथ रहेगी। फिर अर्जुन से कहा तुम अब बोलो। अर्जुन ने कहा भगवन् ! आपने जब दो भाग कर ही दिए हैं और आप स्वयं अनुग्रह कर रहे हैं तो फिर मैं और क्या मांगू, क्या सोचूँ। मुझे आपके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। आप ही अनुग्रह करें। अर्जुन ! कृष्ण ने चेताया मैंने कह दिया है कि मैं शस्त्र नहीं उठाऊंगा। यह तो एक प्रसंग है जो हजारों वर्षों पहले घटित हुआ था। पर इसमें जो संदेश है वह यह है कि कृष्ण ने पर दुःख–छेदन कि इच्छा से करूणा का स्रोत बहाया।

हम अपनी ओर देखें। भीतर की आँखों से भीतर चल रहे उस टी.वी. सीरियल को देखें, हमारे भीतर भी यह महाभारत घटित हो रहा है। कौरव और पाण्डव दोनों हमारे भीतर हैं। चित्त की जो अशुभ वृत्तियाँ हैं जो शरीर पोषण में ही संलग्न हैं और जिन्होंने आत्मा को भुला दिया है उन्हें कौरव समझिए। शुभ वृत्तियों रूपी पाण्डव कहते हैं हमें भी कुछ अधिकार दो, तुमने पूरे पर अधिकार कर लिया है। पर कौरव वृत्तियाँ अनीति मार्गी हैं। जैसे भी हो शरीर का पोषण होना चाहिए। अनीति अर्थात् अन्याय। तो हम देखें कि अपने साथ हम

अन्याय कर रहे हैं या नहीं। एक ओर आत्मा है और दूसरी ओर शरीर है। शरीर के लिए तो हम कितने ही घंटे बरबाद कर देते हैं पर आत्मा के लिए कितना समय देते हैं ? दोनों के प्रति हम नीति के धरातल पर हैं या अनीति के ? भीतर के महाभारत को नहीं देखा इसीलिए प्रभु कह रहे हैं– असंखयं जीविय मा पमायए– तुम्हारा जीवन असंस्कारित है, प्रमाद मत करो। तुमने अब तक शरीर का ही पोषण किया है, दुर्योधन वृत्ति को ही बढ़ाया है, पाण्डवों के प्रति, आत्मा के प्रति विचार नहीं किया है। पर ये वृत्ति ज्यादा दिन नहीं टिकेगी, अधिक समय नहीं चलेगी। कृष्ण को, अर्जुन को हमारी तरफ से युद्ध करना होगा, आत्मा उनके साथ होगी तो फिर काम, कोध, ईर्ष्या, मद, मत्सर की वृत्तियों को परास्त करना कठिन नहीं होगा। आत्मा बलवान है। चाहे वह हथियार न भी उठावे पर यदि वह सक्रिय हो जाय, उसकी एक दृष्टि भी घूम जाय तो वो कुवृत्तियाँ आत्मा को पराभूत नहीं कर पायेगी वे सारी की सारी वृत्तियाँ क्षीण हो जायेंगी। लोग मानते हैं अतः कहते हैं कि परमात्मा का स्मरण करो संकट टल जायेगा। दुःख में ही स्मरण क्यों होता है ? इसलिये कि उस समय व्यक्ति चारों ओर से निराश हो गया होता है। जब व्यक्ति को कहीं आश्रय नहीं मिलता तब वह परमात्मा की शरण स्वीकार करता है। अर्जुन ने कृष्ण की शरण ली, उसने सेना से नहीं, कृष्ण से लगाव किया। चेतना जब तक सेना को चाहेगी तब तक उथल–पुथल रहेगी, असंतुलन बना रहेगा। पर जब वह कृष्ण रूपी आत्मा को अपना संबल बना लेगी तब फिर वहाँ कोई संशय नहीं रहेगा। एक परम–आत्मा का आश्रय ही प्राप्त कर लेना पर्याप्त है– एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।

इसलिए कहा है कि एक को साध लो। एकनिष्ठ बनो, क्योंकि जब तक दोलायमान स्थिति है, तब तक सफलता नहीं मिलेगी। जब पूर्ण समपर्ण होगा आत्मा के प्रति तथा परमात्मा के प्रति, तब जो भी

दुःख होगा, दूर हो जायेगा। अहमदाबाद के रोशनलालजी मेहता के साथ ऐसा ही घटित हुआ था। प्रसंग आँखें खोलने वाला है। गुरूदेव की कृपा से वे बाल बाल बच गये। घटना इस प्रकार घटी। वे बता रहे थे कि हम यात्रा करते हुए शिखर जी की ओर जा रहे थे। हम पांच लोग एक कोच में थे और बिहार का अराजकतापूर्ण क्षेत्र था, जहाँ रोज आपराधिक घटनाएँ घटती रहती हैं। सहसा हमने देखा कि हाथों में शस्त्र लिए हुए अनेक असामाजिक तत्त्व गाड़ी के दोनों द्वारों से भीतर आ घुसे। रिजर्वेशन वाला डिब्बा था। वे प्रत्येक यात्री को लूटने लगे। यात्री तो काफी थे, पर किसी में साहस नहीं था कि सामना करे। शस्त्र देखकर सभी घबरा रहे थे। आतंक फैलाते हुए वे लुटेरे आगे बढ़ रहे थे। डंडे से प्रहार भी कर रहे थे ताकि कोई भी प्रतिकार का साहस न कर सके। हम पांच व्यक्ति थे। एक कोच में ६ सीटें होती हैं, एक अन्य भाई भी था हमने कहा– किनारे की सीट ले लो हम एक साथ हो जायेंगे पर वह तैयार नहीं हुआ। वे लुटेरे हमारी ओर ही बढ़ रहे थे। मैं तो गुरूदेव के स्मरण में डूब गया, गुरूदेव की छवि में तन्मय हो गया। अन्दर से एक संकल्प किया– गुरूदेव यदि मैं संकट से उबर गया तो आपके दर्शन करूंगा। एक इसी भावना के अलावा और क्या हो रहा था मुझे कोई भान नही था। लुटेरों ने उस व्यक्ति को भी लूट लिया जिससे हमने सीट बदलने का आग्रह किया था। फिर वे हमारी तरफ मुड़े कि अचानक उधर से आवाज आई– "इधर आ जाओ, उन्हें मैं टटोल चुका हूँ उनके पास कुछ नहीं है। और हमें छोड़ कर वे चले गये। यह कैसे हुआ ? निश्चय ही श्रद्धा के बल पर। यदि व्यक्ति एकनिष्ठा से जुड़ जाये तो संकट के बादल छिन्न–भिन्न हो जाते हैं। कवि ने भी यही संकेत दिया है कि दूसरों के निमित्ति से जब तक लगाव है तब तक हम दुःखी रहेंगे परन्तु जब पर–दुःख–छेदन की इच्छा के लिए करूणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होगा तभी हम दूसरों पर भी अनुकम्पा कर पायेंगे। तीर्थंकर के पास पहुंचने पर हम इसीलिये शांत हो जाते हैं

क्योंकि उनके भीतर वह स्रोत है।

एक बगीचे में यदि पलाश के ही फूल हैं तो वहां सुवास कैसे फैलेगी ? परन्तु यदि बगीचा सुगन्धित पुष्पों से संपन्न है तो वहां भीनी–भीनी सुवास स्वतः ही फैल जायेगी। इसी प्रकार करूणा का सौरभ पहले स्वयं में फैले तभी हम दूसरों को सुवास दे पायेंगे। यदि कौरवी वृत्ति से शरीर पोषण में लगे रहें तो असंस्कारित वृत्ति हमें बुढापे की जर्जर अवस्था तथा मौत के बहुत निकट तक पहुंचा देगी। जरा और मृत्यु से रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं होगा। अतः जीवन को असंस्कारित मत रखो। इस संदर्भ में थावच्चा पुत्र की दीक्षा लेने की कथा पर दृष्टिपात करें। माता ने सोचा– मैं पुत्र की दीक्षा का उत्सव धूमधाम से मनाऊँगी। वह कृष्ण के पास पहुँची और कहा– मैं पुत्र का अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाना चाहती हूँ, अतः चँवर और मुकुट मुझे देने की कृपा करें। उस समय राजकीय मुकुट व चंवर सिर्फ राजाओं के उपयोग के लिए होते थे या उनकी अनुज्ञा से किसी अन्य को उनके उपयोग करने का अधिकार मिल सकता था। कृष्ण ने कहा– यह अच्छी बात है कि तुम्हारा पुत्र दीक्षा लेना चाहता है। मैंने तो पहले ही अरिष्टनेमि प्रभु से सुनकर घोषणा करा दी थी कि जो भी अपने जीवन को संस्कारित करना चाहे उसे मेरी आज्ञा है। [illegible] जिम्मेदारियों का मैं वहन करूंगा। उन्होंने थावच्चा पुत्र को अपने पास नहीं बुलाया बल्कि स्वयं उसके घर पहुँचे। कृष्ण ने [illegible] अच्छी तरह सोच लो, यह दुष्कर मार्ग है। मैं तुम्हारा [illegible] पर संयम कोई मामूली बात नहीं है। अभी कुछ [illegible]। यदि व्यापार की तकलीफ हो तो आजीवन तुम्हारे [illegible] अपने ऊपर लेता हूँ। मैं तुम्हारी सुरक्षा कर सकता [illegible] आप सम्राट हैं, सब कुछ कर सकते हैं। [illegible] आप मेरी सुरक्षा कर सकते हो तो आपकी बात [illegible] त्याग सकता हूँ। कृष्ण ने

कहा– दो क्या मैं तुम्हारे सभी शत्रुओं से तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ। बोलो कौन है तुम्हारे शत्रु ? थावच्चा पुत्र ने कहा– जरा और मृत्यु ये मेरे दो शत्रु हैं। क्या आप इनसे मुझे त्राण दिला सकते हैं। हम जानते हैं कि इनसे कोई नहीं बचा सकता। सम्पत्ति, परिवार, राजा, सेनापति, कोई भी बुढ़ापा और मौत से नहीं बचा सकते। कौरवी वृत्तियाँ काम, कोध, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि आत्मा के शत्रु हैं। इन वृत्तियो से बचने के लिए इन्हें शमित करने का प्रयास करना चाहिये। इनके द्वार खुले रखें तो फिर बचाने वाला कौन होगा ? वर्ष भर यही करते रहें पर आज अवसर आया है, आज का दिन कैसा है, इस संबंध में गुजरात में कहावत प्रचलित है– "आज नो दिन केवो छे, सोनो करता मोंगो छे।"

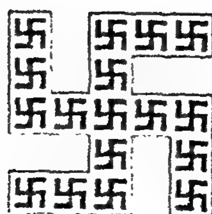
सोना आपको महंगा लगता है पर आज का दिन सोने से भी महंगा है। सिर्फ उपभोगों मे ही यदि आज का दिन व्यतीत कर दिया तो उद्धार कैसे होगा ? यदि आज के एक दिन को भी कोई सार्थक बना ले तो उसका भविष्य सुधर जाय। कहते हैं –

काल करे, सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परलय होयगी बहुरि करैगो कब॥

आज का दिन भी निकल गया और संस्कारो की नींव नहीं डाली तो महल कैसे बनेगा भले ही कितनी ही दिवारें क्यों न चुन लो। आज के दिन का महत्व ही यदि समझले तो जीवन संस्कारित हो सकता है। इसलिये हम जाग्रत हों। समझें कि जीवन असंस्कारित है और उसे संस्कारित करने का संकल्प लें। एक बार का शुभ संकल्प अनेक जन्मों की भव परम्परा को तोड़ सकता है। इसी भव से मुक्ति नहीं हो सके तो यहां से महाविदेह में या यहाँ से देव और वहाँ से महाविदेह में जाकर सिद्ध हो सकते हैं। इस सिद्धि हेतु आज से ही प्रयास करें और यह मानकर चलें कि आज का ही दिन श्रेष्ठ है, आज ही शुभ मुहर्त भी है। एकनिष्ठ बनकर जागिये और पुरूषार्थ

को जगाइए। हम यह समझलें कि हमारे भीतर भी अमृत का निर्झर वह रहा है, पुदगलों के लगाव से हमने उसे शुष्क कर दिया है। अत पुदगलों से उपरत होकर शाश्वत सुख को पाने की दिशा में पुरुषार्थ करें तो निश्चित रूप से जीवन को मंगलमय अवस्था उपलब्ध होगी। यही निज पर करूणा होगी जो 'पर' के भाव से छुटकारा दिलाकर हमें आत्म तत्त्व में स्थित करेगी । करूणा के इसी रूप को सिद्धि हेतु प्रयास आवश्यक है। **OO**

दि. 05.10.96



11. करूणा भाव और आत्म संस्कार

शीतल जनपति लसित त्रिभंगनी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रो।।

देवाधिदेव तीर्थंकर प्रभु महावीर ने 'सर्व जंतु–हितकरणी करूणा' के भावों से ओत–प्रोत भव्य आत्माओं के कल्याणार्थ जो उपदेश दिया था, वह दिव्य देशना के रूप में इतनी लम्बी अवधि बीत जाने के पश्चात् आज भी हमारे मार्गदर्शन हेतु उपलब्ध है। वह देशना उपलब्ध है, यह तो सौभाग्य की बात है पर चिन्तन का विषय यह है कि क्या हम उसका उपयोग कर रहे हैं। खेद का विषय है कि ऐसा नहीं कर रहे हैं। हमनें तो उस देशना को किताबों में सुरक्षित कर पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाई है। पर तीर्थंकरों के उपदेश पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने के लिये ही नहीं हैं वे जीवन की शोभा बढ़ाने के लिए है। यदि उन्हें जीवन में आत्मसात् कर लिया जाय तो जीवन का उन्नयन हो सकता है, अन्यथा वे उपदेश आपके लिए क्या अर्थ रखते हैं। प्रभु ने इसी स्थिति को ध्यान में रखकर कहा था कि तुम्हारा जीवन असंस्कारित है। सोचना यह है कि वह असंस्कारित कैसे है ? उस अवस्था से हम उपरत कैसे हो सकते हैं। कैसे हम संस्कारित बनें ? संस्कारित बनना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि जब तक जीवन की मूलभूत अवस्थाएँ असंस्कारित हैं तब तक आगे का पाथेय भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए सर्वप्रथम आवश्यकता है, जीवन को संस्कारित करने की। कवि आनन्दघनजी ने संस्कारित जीवन हेतु ही भगवान शीतलनाथ की प्रार्थना को माध्यम बनाया। माध्यम अथवा निमित्त कोई भी हो सकता है पर आवश्यकता होती है कि चैतन्य उसे निमित्त रूप में स्वीकार कर ले। नमिराजर्षि के लिए चूड़ी की खनखनाहट ही यह निमित्त बन गयी। राजा करकण्डू के लिए यह माध्यम वह सॉड़ बना जो पूर्व में हृष्ट पुष्ट अवस्था में था, किन्तु बाद में जो इतनी

दयनीय दशा में पहुँच गया कि भिनभिनाती मक्खियाँ उड़ाने तक की सामर्थ्य उसमें नहीं रही। उसे देख कर नृपति जागृत हो गये। निमित्त जीव–अजीव, जड़–चेतन, किसी को भी बनाया जा सकता है पर बनाने वाला तो चेतन ही होता है। आगम ऐसे दृष्टांतों से भरे पड़े हैं जो स्पष्ट करते हैं कि जब तक कोई निमित्त नहीं बनाया जाता और जब तक उसमें समाहित मूल तत्वों को ग्रहण नहीं किया जाता, तब तक कल्याण–पथ प्रशस्त भी नहीं हो सकता। कवि आनन्दघनजी प्रभु की प्रार्थना की एक कड़ी 'पर दुःख–छेदन इच्छा करूणा' को प्रभु शीतलनाथ की कृपा हेतु निमित्त बनाते हैं। उनके प्रति समर्पणा निमित्त अथवा साधन बनकर जीवन को संस्कारित कर सकती है।

उस पंक्ति में करूणा का जो स्वरूप बताया गया है उस पर विचार करने के बाद प्रश्न उत्पन्न होता है कि दुःख को कैसे दूर किया जाय ? इस संबंध में भगवान का निर्देश है कि दुःख को दूर करना है तो दुःख के क़ारण को भी जानना होगा। कारण के जाने बिना दुःख दूर नहीं होगा। वृक्ष तो ऊपर दिखाई देता है पर उसका मूल जमीन में छीपा रहता है। दुःख रूप कार्य अथवा परिणाम को तो जानते हैं पर कारण ओझल है, उसे देख नहीं पा रहे हैं। उस कारण को देख पाना अथवा जान पाना आवश्यक है क्योंकि यदि कारण का समूल उच्छेंदन नहीं किया गया तो वह कारण आगे से आगे कर्म बनता चला जायेगा। इसलिये दुःख को दूर करना है तो पहले कारण को भी दूर करना होगा। इसके लिये कारण जानने की जिज्ञासा होना भी आवश्यक है क्योंकि जब तक किसी कार्य को करने की भावना नहीं जगे तब तक कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। "व्यक्ति सुख चाहता है और दुःख की अनुभूति करता है" इस कथन के शब्दों के मर्म को ग्रहण करें। सुख की कल्पना से अनुभूति दुःख की कैसे होती है इस स्थिति को समझें। व्यक्ति भविष्य के सुनहरे स्वप्न संजोता है और सुन्दर कल्पनाओं में ही सुख आनंद मानना है पर

कल्पनाओं का कोई भौतिक धरातल नहीं होता इसलिये वे यथार्थ में परिणित नहीं होती। मनुष्य को इससे असंतोष होता है और कल्पनाओं के टूटने से पीड़ा होती है। इसलिये कल्पनाओं की वास्तविकता समझ कर उनसे दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये। एक व्यापारी प्रतिवर्ष तलपट मिलाता है और उसे प्रतिवर्ष घाटा ही घाटा लगता दीखता है। उसे समझ नहीं आता कि घाटा क्यों लग रहा है। वह खोज करता है। विद्यार्थी यदि निरन्तर अनुत्तीण होता रहता है तो उसके अभिभावक उसे उसी दशा में नहीं चलने देते बल्कि वे खोज करते हैं कि वह निरन्तर अनुत्तीण क्यों हो रहा है। संभव है दो-तीन वर्ष उसके लगातार अनुत्तीण होने पर उसे विद्यालय में प्रवेश देने से भी इन्कार कर दें। आप अन्वेषण करते हैं और अन्वेषण के बाद कारणों को दूर करने की कोशिश करतें हैं। व्यापारी ने भी साझेदारी में व्यापार किया था, घाटा लगने पर उसने खोज प्रारंभ की। खोज में पहले दृष्टि टिकती है साझेदार पर। वह कहीं धोखा देकर अपना घर तो नहीं भर रहा है। आखिर इतना नुकसान क्यों हो रहा है, जबकि उसे अहसास है कि वह तो निष्ठा से कार्य कर रहा है, प्रत्येक वस्तु मुनाफे से बिक रही है और रोटेशन अच्छा है तो घाटा क्यों हो रहा है। हो न हो वह कुछ गड़बड़ी कर रहा है, इसी से मुझे घाटा उठाना पड़ रहा है। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि वह साझेदार फर्म के प्रति ईमानदार नहीं है। इस स्थिति से निपटने के लिये आप दृढ़ कदम उठायेंगे। साझेदार से आप कहेंगे- या तो हिसाब करके फर्म छोड़ दो या फर्म रखना चाहो तो मैं फर्म छोड़ता हूँ। यह विकल्प तब ही रख पायेंगे जब संकल्प से पहले खोज बीन कर लेंगे। स्पष्टतः संकल्प होगा पहले कि मैं साझेदारी में घाटा सहन नहीं कर सकता। फिर अलग करने में समय अधिक नहीं लगेगा। पूज्य आचार्य देव बोरीबल्ली में चातुर्मास संपन्न कर रहे थे। बम्बई में पहली बार पदार्पण हुआ था, पत्रकारों ने सुना, पहुँच गये। उन्होंने आचार्य भगवन् से अनेक प्रश्न किये। उस दौरान आचार्य भगवन् ने जो बातें

कही, अभिषेक नामक गुजराती पत्रिका में उस वार्ता का संक्षिप्त निष्कर्ष एक घटनाक्रम के रूप में छपा– "आचार्य श्री नानेश नु मजेदार सिद्धांत।"

वह साझेदारी के रूप में ही उल्लिखित हुआ था। गुरूदेव ने बताया कि जब वे गृहस्थ के रूप में थे तब उन्होंने साझेदार के रूप में व्यापार किया था। एक बात उन्होंने भली प्रकार समझ ली थी कि साझेदारी का काम टेढ़ा होता है। इसलिये साझेदार से यह समझौता कर लिया था कि यदि कभी मुझे उत्तेजना आ जाए तो तुम चुप रह जाना, तुम्हें उत्तेजना आ जाये तो मैं चुप रह जाऊंगा इसीलिए इसे कहा गया मजेदार सिद्धांत। यदि इसे परिवार में अमली रूप में काम में लें तो यह हो कि यदि एक व्यक्ति उत्तेजित हो और शेष सदस्य शांत रहे तो परिवार सुरक्षित बना रहेगा। यदि एक उत्तेजित हो और साथ में सभी उत्तेजित हो जायं तो उस घर को बचा पाना मुश्किल होगा। आचार्य श्री की वह छोटी वय थी, धर्म ग्रन्थों का अध्ययन भी नहीं किया था, पर उनका समझौता सिद्धांत उनके भीतर की उपज थी। उन्होंने उसके ही आधार पर व्यापार किया। आज भी यदि वह सिद्धांत परिवार में, समाज में, राष्ट्र में तथा जहाँ भी दो व्यक्ति मिलते हों वहाँ लागू हो जाये तो वह वरदान साबित हो सकता है। आज व्यक्ति के लिए जीवन अभिशाप बना हुआ है। परिवार में, समाज में सबको साथ लेकर चलना टेढ़ी खीर है। पर आचार्य देव के जीवन को उर्वर रूप देने वाले सिद्धांत से अभिशाप को वरदान में बदला जा सकता है।

बात साझेदारी की चल रही थी जिस साझेदारी में पाप हो उसे समाप्त करना ही समझदारी हो सकती है। परदुःख–छेदन के सिद्धांत पर चलने पर भी ऐसा हो सकता है। उस स्थिति में पर के साथ जो साझेदारी है। उससे संबंध समाप्त कर पिण्ड छुड़ायें। अवसर आया है, जागें। परदुःख–छेदन का सिद्धांत तो अच्छा है लेकिन 'पर' किसे

कहें ? 'पर' व्यक्ति नहीं बल्कि पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति जो ममत्व, राग भाव या भीतर पैदा होने वाले वैभाविक भाव हैं वे ही 'पर' हैं। वे दुःख पैदा करते हैं। उस दुःख की अनुभूति करनी चाहिये। 'पर' का संयोग बना, चेतना में, कर्म के साथ भागीदारी हुई, संसार में दुकान चलने लगी, वह बहुत समय तक बेसुध रहा, सारी पूंजी लगा दी, देखरेख भी पुद्‌गलों पर छोड़ दी। सम्पत्ति लगाकर सारा कार्य मन, वचन और काया को सौंप दिया। ये सब पौद्‌गलिक हैं। इन्होंने हमें जगह–जगह घुमाया मनमर्जी से, जहाँ चाहे वहाँ भटकाया पर हमने यह चिन्तन कभी नहीं किया कि इस सांसारिक साझेदारी में हमें कितना घाटा लगा। प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त हो गया, उनके सान्निध्य में आने वाले गणधरों को भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। क्या कारण है कि हमारे भीतर वैसी शक्ति प्रकट नहीं हो रही है ? कारण यह है कि पुद्‌गलों ने अपना इतना साम्राज्य जमा लिया है और हमें इस कदर दास बना लिया है कि उन्हें छोड़ने की हम में क्षमता या तत्परता ही नहीं बन पा रही है।

पहले हम 'पर' के स्वरुप को जान लें। ये कर्म पुद्‌गल ही 'पर' हैं। हमने पहले इन्हें लिफ्ट दी, कर्म को आसन दिया। हम यह भुल गए कि इनकी प्रवृत्तियाँ विकृत हैं, इनसे बच कर ही रहना चाहिये। लिफ्ट पाकर ये सेंध लगाने का काम करने लगे। तुम सतर्क नहीं रहे इसी कारण यह हावी हो गए। अब चेतो, अभी भी समय है, 'पर' को जान लो। जानने पर दुःख छेदन की इच्छा भी जागृत होगी। हम सुनते तो बहुत हैं कि सामायिक, पौषध, धार्मिक अनुष्ठान आदि करने चाहिये, हिंसा नहीं करना चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, पर क्या हिंसा छूटी, झूठ छूटा ? दूसरे कामों से अपने को हमने अलग कितना किया ? कवि कह रहे हैं– 'पर दुःख छेदन इच्छा करुणा'। कवि ने जो मार्मिक बात कही है, उसमें निहित बात को समझें। वे शाब्दिक चयन में ही नही रहें अपितु अर्थ की गहराई में भी उतरें। उन्होंने

आत्मा के सत् चित् आनन्दमय स्वरुप को प्राप्त करने के लिए प्रयास करने का संकेत दिया है। प्रभु ने तो कह दिया जीवन असंस्कारित है प्रमाद मत करो, पर जीवन को संस्कारित कैसे करें ? पहले यह जानना होगा कि संसार में आत्मा किस कारण घूम रही है। कारण को जानें, 'पर' संयोग को जानें क्योंकि उसने ज़ीवन को असंस्कारित किया है। ज्ञान, दर्शन, चरित्र को ढक दिया है, हमें असहाय बना दिया है। सोचें, उसका छेदन करने के लिए क्या करना चाहिये। उसे साझेदारी से अलग करना है या उसके साथ दुकान चलाते रहना है? छेदन की इच्छा जगती तो है और आपने जान लिया है कि झूठ में छवि बिगड़ती है। आप चाहते भी हैं कि ईमानदारी से काम करुँ पर ये प्रवृत्तियाँ छोड़ने का साहस नहीं कर पाते। तब समझ लिजिये कि हिंसा, झूठ आदि से अलग नहीं हो पायेंगे। हम कुत्सित प्रवृत्तियों को जान कर भी त्याग नहीं पाते, बेबस रह जाते हैं, यह दयनीय स्थिति है। प्रभु का उपदेश सुबाहु कुमार सुन रहे हैं। आप वर्णन सुन गए 'सद्हामिणं, भंते पत्तियामिणं, भंते रोएमिणभंते–' अर्थात भगवान् मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्दा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ। पर रुचि जब तक जगी ही नहीं कि मुझे अमुक कार्य करना है तब तक प्रवृत्ति नहीं होगी।

मैं पूर्व में बतला गया हूँ कि हमारी कल्पना सुख के लिए होती है। सोचते हैं कि यह करुंगा, वह करुंगा, कुछ व्यापार की कल्पनाएँ, कुछ परिवार संदर्भित कल्पनाएँ पर क्या कभी यह भी कल्पना की है कि मुझे आत्मा के लिए भी कुछ करना है ? संतो को ही नहीं, श्रावकों को भी पिछली रात्रि में ब्रह्ममुहूर्त में चित्तवृत्ति को संबोधित करते हुए कहना है– हे चैतन्य। तू जाग, सोच तू कहाँ से आया है ? क्या करना है ? कहाँ जाना है, तू कौन है ? यदि तू कौन है इसे भी नहीं जाना तो आगे प्रवृत्ति कैसे होगी ? भाई दर्शनार्थ आते हैं, पूछते हैं– महाराज मुझे पहचाना। मैं कहता हूँ भाई तुम्हें पहचानने से मतलब

सिद्व नहीं होगा। मेरे तुम्हें पहचानने या न पहचानने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा। फर्क तब पड़ेगा जब तुम 'स्व' को पहचानोगे। 'स्व' को पहचाने बिना उद्वार नहीं होगा। यदि स्वयं को ही पहचान जायें तो भी बेडा पार हो सकता है। क्योंकि कहा गया है–'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' अर्थात् यदि एक को जान लोगे तो सब को जान लोगे। कैसे जान लोगे ? मान लिजिए मैंने एक व्यक्ति को जान लिया, हजार व्यक्ति उपस्थित हैं और वह व्यक्ति उनमें नहीं है तो मैं कहूंगा यह वह नहीं है, यह वह नहीं है। इस प्रकार निषेध रुप से सबका परिचय हो जायगा। पर यहाँ कहा गया है कि एक आत्मा को जिसने सर्वांगीण रूप से जान लिया तो वह प्रत्येक पदार्थ को सर्वांगीण रूप से जान लेगा। इसलिए प्रभु कहते हैं 'स्व' को जानो, यही करुणा भाव है। सम्यक्त्व के लक्षण में भी करुणा भाव कहा गया है। जब अपनी अनुभूति में पर–दुःख–छेदन की भावना प्रबल होती है तब पर–भाव दूर हो जाते हैं। जब साझेदारी से घाटा दूर करने की अभिलाषा प्रबल बनती है तब वह वकील के पास पहुंच जाता है। यदि उसे फुर्सत नहीं हो तो भी दो सौ–चार सौ रुपये देकर तय करेंगे, परामर्श करेंगे कि घाटा दूर कैसे करूँ। हानि से उबरने की इच्छा तो सभी को जगती है परन्तु जब तक आत्म शक्ति जागृत न हो, मन का सान्निध्य उसे दबा देता है। आत्म शक्ति को प्रकट करना है तो बाहर से हटकर बिखरी शक्तियों को केन्द्रित करना आवश्यक है। चारों ओर जो हमारी शक्ति बिखर रही है जब तक वह केन्द्रित नहीं होगी तब तक चाहे कितना ही प्रयत्न करें, पौदगलिक प्रभाव से ऊपर उठ नहीं पायेंगे। पौद्गलिक प्रभाव से ऊपर उठाने के लिए आवश्यक है शक्ति का केन्द्रीयकरण। इस स्थिति को एक उदाहरण से समझें।

यदि यह समाचार मिलता है कि युद्व छिड़ गया है और कभी भी बमबारी हो सकती है तब सभी को सचेत किया जाता है कि अपने

घरों में जेड आकार की खाइयाँ खोद लें ताकि हवाई हमले के समय नागरिक उनमे शरण लेकर सुरक्षित रह सकें। रात्रि में लाईट नहीं जलाई जाय तथा सेना को आक्रमण की स्थिति में तैयार रखा जाता है। पता नहीं कब आवश्यकता पड़ जाये। इसी प्रकार हम व्यक्तियों को सावधान करतें हैं कि न जाने कब जरूरत पड़ जाये अतः हर समय सावधान रहो। सेनापति का कुशल नेतृत्व मिले तो पुद्गल से पिण्ड छूट सकता है। इसलिये पर–दुःख छेदन हेतु ऊर्जा को संयोजित करें। आज हम भ्रांतियों के झूले में झूलने लगते हैं। व्यक्ति धार्मिक क्रियाएँ भी कभी–कभी अपनी पाप–प्रवृत्तियों को छिपाने के लिए करता है ताकि दुनियाँ की निगाहों में वह धर्मात्मा बना रहे। कई बार वह दुकान में भी गोमुखी में रखकर माला फेरता रहता है। ग्राहक जब देखता है कि सेठ जी इतने धर्मात्मा हैं तो वह बेझिझक माल खरीद लेता है। यह तो घर पर जाकर देखने पर मालूम पड़ता है कि तोल कितना खरा था और माल कितना सही। व्यक्ति अपने पाप को छिपाने कैसे धर्मात्मा बन जाता है। यह उस राजा के दृष्टांत से समझा जा सकता है। जिसने देखा चारों और उसका अपयश फैल रहा था। कहा जाता था कि वह अन्यायी है राजा को चिन्ता हुई, अपने संवंध में फैले अपवाद को कैसे दूर किया जाय। एक पुरोहित राजसभा में आता रहता था। उसने राजा को चिन्तित देख चिन्ता का कारण पूछा। राजा ने मन की बात बता दी। उसने कहा राजन, यदि आप प्रतिदिन धर्मशास्त्र सुनें तो आपका पाप नष्ट हो जाएगा। राजा ने कहा कौन सुनाएगा, मैं तो पढ़ना जानता नहीं हूँ। पुरोहित ने कहा राजन, सुनाने के लिए मैं तैयार हूँ, भला आपके लिए मनाई थोड़े ही हो सकती है। राजा ने पूछा अच्छा, तुम सुनाओगे तो पारिश्रमिक क्या लोगे ? पुरोहित ने उत्तर दिया वैसे तो राजन, आपका ही आधार है, आपसे क्या मांगू पर परिवार वीवी वच्चों को भी पालना पड़ता है। आप जो दक्षिणा देना चाहें दे दें। मैं प्रतिदिन एक घंटे धर्मशास्त्र सुना दूंगा। पुरोहित जी आने लगे। धर्मशास्त्र सुनाने

के बाद राजा रसीद काट देते और पुरोहितजी भण्डारी से दो सोने की अशर्फियाँ प्राप्त कर लेते। समय गुजरता रहा, एक दिन पुरोहितजी नाई की दुकान पर पहुँचे। नाई ने बाल बनाते हुए कहा आप प्रतिदिन राजा को धर्मशास्त्र सुनाते हैं तो आप क्या लेते हैं ? पुरोहित ने कहा मुझे दो अशर्फी प्राप्त होती है। नाई ने कहा तो पुरोहितजी, मैं भी आपसे दो अशर्फी लूंगा क्योकि आप भी एक घंटे सुनाते हैं और मुझे भी इस काम में एक घंटे का समय लग जाता है। अतः मैं भी दो अशर्फियों से कम नहीं लूंगा। पुरोहित ने कहा भाई, तुम्हारी और मेरी मेहनत में अन्तर है, और मैं राजा से मांगता नहीं हूँ राजा स्वयं दक्षिणा के रुप में मुझे प्रदान करते हैं। नाई ने कहा तो ठीक है। मैं भी आप से कुछ नहीं लूंगा, जब चाहें तब दक्षिणा दे देना। पुरोहित तो चला गया, नाई ने विचार किया– अरे ये ब्राह्मण राजा से प्रतिदिन दो अशर्फी वसूल करता है और ये राजा भी कुछ समझता नही। इतने से कार्य के लिए दो अशर्फी ? अब अपने को कुछ करना होगा।

कहते भी हैं कि पक्षियों में कौआ और मनुष्यों में नापित बड़े चतुर होते हैं। नाई ने सोचा कोई चतुराई लगानी चाहिये। वह राजा के पास पहुँचा और बोला राजन् आपके शरीर से तो सुगन्ध आती है पर ये पुरोहित आपसे परहेज करता है। मैं प्रतिदिन सेवा करते हुए देखता हूँ। यह पुरोहित अपने आपको बहुत श्रेष्ठ समझता है। राजा ने कहा– भई, वह तो धर्मात्मा है, ऐसी बात मुझे तो महसूस नहीं होती है। नाई ने कहा– राजन् आप ने ध्यान नहीं दिया पर ऐसे लोगों को परखने में मुझे देर नहीं लगती। आप उदार दिल हैं इसलिए उस कोण से नहीं देखते। वह सिर्फ परहेज ही नहीं रखता बल्कि सुगन्ध में भी दुर्गन्ध की अनुभूति करता है। राजा ने कहा इसका क्या प्रमाण है ? तुम किस आधार पर यह कह रहे हो ? नाई ने कहा राजन् जब वह आपके पास आता है तो नाक और मुंह पर कपडा बांध लेता है। आपके प्रति उसके मन में दुगुंच्छा के भाव हैं। जब कल वह आये,

आप ध्यान रखना। राजा ने दूसरे दिन ध्यान रखा– सचमुच पुरोहितजी ने मुँह–नाक बाँध रखे है। राजा ने सोचा 'हाथ कंगन को आरसी क्या' ? राजा के मन में ग्रंथि बन गई। एक पर–भाव और जुड़ गया। छेदन तो दूर रह गया। ब्राह्मण घृणा करता है नाई ने ठीक ही कहा था। मैंने इतने दिन ध्यान ही नहीं दिया। मन मे पाप वासना है, घृणा है। वह कैसा धर्मात्मा है ? और उसके मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ घूमने लगीं। राजा भूल गया कि वह धर्म–शास्त्र सुन रहा था। यदि सुनने में ध्यान न हो तो व्यक्ति प्रत्येक कड़ी को अपने दृष्टिकोण से जोड़ने की कोशिश करता है, अपना गणित लगाता है कौनसी बात किसपे फिट बैठती है यह सोचता रहता है। परन्तु जब तक बाकी, जोड़, गुणा, भाग का गणित चलता रहता है तब तक एक और एक ग्यारह नहीं बनते। पर यदि इन चिह्नों को सर्वथा हटाकर लिखें– 1 और 1 यह ग्यारह बन जाते हैं। इस प्रकार संबंध जुड़ने पर दो शक्तियाँ साथ खड़ी होती हैं तब ग्यारह बन जाते हैं। राजा भी गणित लगा रहा था। धर्म शास्त्र सुनाने का समय पुर्ण हुआ, पुरोहित ने राजा को आशीर्वाद दिया और राजा ने भी रोज की तरह पर्ची लिख दी। पुरोहित रवाना हुआ। उधर नाई को भी यह जानने की उत्सुकता हुई कि राजा ने कुपित होकर विप्रदेव को क्या दंड दिया है ? खबर लेनी चाहिए। देखा, ब्राह्मण तो प्रसन्न मुद्रा में चला आ रहा था। उसने कहा– ब्राह्मण देवता नमस्कार। ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया। नाई के हाव–भाव से लग रहा था वह कुछ चाह रहा है ब्राह्मण ने पर्ची उसके हाथों में दे दी और चले गए अपनी राह। नाई भंडारी के पास पहुंच गया और रसीद पेश कर दी। भंडारी ने कार्य पूरा किया।

दूसरे दिन ब्राह्मण दरबार में पहुँचा। राजा विस्मित हुआ। उसने पूछा– क्यों, आपने कल दक्षिणा नहीं ली, पर्ची कहाँ है ? ब्राह्मण ने सोचा बात क्या है ? फिर उसने कहा दक्षिणा तो मिल

गई। राजा विचार में पड़ गया। क्या भंडारी मेरे निर्देश का पालन नहीं करता है। राजा ने ब्राह्मण से कहा तुम्हारे भीतर हिंसा के भाव, रागद्वेष के भाव पनप रहे हैं। धर्मशास्त्र क्या सुनूँ पहले स्वयं तो उन पर आचरण करो। पुरोहित ने कहा– महाराज, मुझे बात समझ में नहीं आई। राजा ने कहा– अरे ये बताओ कि धर्मशास्त्र सुनाने मेरे पास आते हो तो मुंह पर कपड़ा क्यों बांधते हो ? यहाँ अपन दो के सिवाय तीसरा कोई नहीं रहता, स्पष्ट है कि तुम मुझसे घृणा करते हो। पुरोहित ने कहा– राजन् आपके शरीर से तेल, चन्दन, उबटन की सुगन्ध आती है। 'मैं क्यों बाह्मण कहने लगा'। मैं तो कपड़ा इसलिए बांधता हूँ कि कहीं मेरे मुहँ का थूक धर्मशास्त्रों पर या आप पर न उछल जाए। आपका अपमान न हो जाये उसके बचाव की दृष्टि ही मुख्य है। राजा ने विचार किया– नाई तो कह रहा था दुगुंच्छा के कारण मुँह बाँधता है। राजा विचार करने लगे भंडारी ने दक्षिणा क्यों नहीं दी। भंडारी को बुलाया गया। उसने कह दिया आपके निर्देशानुसार मैंने अपना कार्य किया है। तब ब्राह्मण ने कहा कल की दक्षिणा नाई ने मांग ली थी, पर्ची वह ले गया था। नाई को बुलाया गया। उसकी नाक पर पट्टी बंधी थी। राजा ने पर्ची के माध्यम से भंडारी को आदेश दिया था कि पर्ची लाने वाले की तत्काल नाक काट दी जावे। भंडारी ने वही किया था। नाई ने निवेदन भी किया था अरे यह क्या कर रहे हैं? भंडारी ने कहा मुझे नहीं मालूम। राजा का आदेश है और पर्ची पर राजा के हस्ताक्षर है। ब्राह्मण ने कहा राजन् आपको दंड देने से पहले जानकारी तो कर लेनी चाहिए थी।यह है पाप छिपाकर धर्मात्मा बनने का उपक्रम।

उदाहरण की बात तो अपनी जगह पर है परन्तु हम विचारें कि ऐसा कैसे हुआ। निश्चित ही जहाँ असंस्कारित जीवन है वहां आवेश में व्यक्ति आपा भूल जाता है। जो दूसरों को दुःख देने का प्रयत्न करता है, वह दूसरों को दुःखी कर पाये या नहीं पर स्वयं को पहले ही दुःखी कर लेता है। प्रभु का इसलिए निर्देश है कि जीवन

असंस्कारित है सावधान हो जाओ, एक क्षण भी प्रमाद न करो। जब 'पर' से संयोग जुड़ता रहेगा भीतर करुणा का स्रोत प्रवाहित नहीं होगा। कवि भी परमात्मा की स्तुति उस इच्छा को, संस्कारों को जागृत करने के लिए करते हैं। इच्छा क्या है ? पर दुःख छेदन की इच्छा। कवि हमें बोध दे रहे हैं कि जब प्रभु ने करुणा को जागृत किया तब उसे अपने तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि विशद रूप से प्रसारित कर दिया। चारों और उसका फैलाव कर दिया। इस प्रकार विश्व के प्राणी मात्र के लिए उसे प्रवाहित किया। हमें कामना करनी चाहिये कि प्रभु की स्तुति से वे गुण हमारे भीतर भी समाविष्ट हों। हमें प्रभु की दिशा में स्वयं को झुकाना है। आत्म शक्तियों को सचेत करना है। शक्ति यदि जागृत है तो पुद्गल हावी नहीं हो सकेंगे। केन्द्र यदि मजबूत है तो आने वाली वृतियाँ हानि नहीं पहुँचा सकेगी। पर यदि केन्द्र ही कमजोर है तो वहाँ कोई भी शक्ति कारगर नहीं होगी। शक्ति को जागृत करने के लिए पुद्गलों के प्रभाव से मुक्त होना होगा। संसार भाव से मुड़ना होगा। दुनिया से पहले, 'पर' को सुधारने से पहले स्वयं को सुधारना होगा। वह करुणा जब स्वयं में व्याप्त हो जाएंगी तब भगवान शीतलनाथ द्वारा दिखाये गये मार्ग पर हम मुस्तैदी से चल सकेंगे और जीवन के इष्ट को प्राप्त कर सकेंगे।

oo

दि. 06.10.96



12. छः जीवनिकाय का स्वरूप

शीतल जनपति लसित त्रिभंग्नी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्ष्णता उदासीनता सोहे रो॥
शीतल... ॥1॥

असंखयं जीविय.........................।

तीर्थंकर देवों का दिव्य उपदेश जीवन को संस्कारित करने के लिये है। इसलिये उसे जीवन का अंग बनाना, जीवन के स्वरूप में अभिव्यक्त होना, और जीवन में प्रकट होना चाहिए। परन्तु खेद का विषय है कि हो रहा है उल्टा। हमने उसे आचरण की नहीं प्रदर्शन की वस्तु बना लिया है और पोशाक के रूप में उसे धारण करके अवसरानुसार बदलते रहते हैं। यदि एक दिन में ही चार जगह जाना हो और एक ही पोशाक में गये तो शायद लोग सोचेंगे कि इनके पास कपड़े नहीं हैं इसीलिए एक ही पोशाक पहन रहे हैं। इसीलिए चार प्रकार की पोशाक होना चाहिये। आज व्यक्ति की पहचान पोशाक से होती है जीवन से नहीं। जब तक पोशाक से पहचान बनी रहेगी, जीवन को नहीं पहचान पाएंगे। परन्तु रक्त के साथ आप ऐसा नहीं करते। आपकी शिराओं में जो रक्त कल था वही आज भी है। हो सकता है फेफड़ों ने छानकर सफाई कर उसे पुनः हार्ट में पहुंचा दिया हो। उसमें कुछ नयापन आ गया हो, पर वह खून जन्म से ही शिराओं में दौड़ रहा है। जो चमड़ी जन्म से थी, आज भी वही है। हो सकता कालेपन को छिपाने के लिए प्लास्टिक सर्जरी करवा ली हो। अन्यथा जन्म से जो प्राप्त है, वही अंततः बनी रहती है। मन में रक्त या चमडी के परिवर्तन की बात नही आती। पोशाक और भोजन में परिवर्तन होते रहना चाहिए। उपदेश की बात भी उसी प्रकार की है। एक ही प्रकार के उपदेश से सतोष नहीं होता।

पर सोचें कि उपदेश को क्या बदलते रहने की आवश्यकता है ? उपदेश में ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र और जीवन के तत्वों की बात होती है और ये तत्व चिरन्तन होते हैं। क्या प्रतिदिन पूर्व में ही सूर्योदय देख कर हम ऊबते हैं ? क्या यह इच्छा करते हैं कि सूर्योदय की दिशा बदलती रहे ? क्या शुद्व जल की जीवन के लिए आवश्यकता में परिवर्तन हो सकता है ? ऐसा परिवर्तन जीवन के लिये विनाशकारी सिद्व हो सकता है। यही बात शुद्व वायु के संबंध में भी सच है। तब उपदेश के शाश्वत तत्वों में परिवर्तन कैसे किया जा सकता है ? उपदेश जीवन के रूपान्तरण के लिये होते हैं, उसमें सुधार उनका लक्ष्य होता है। अतः जब तक जीवन का अपेक्षित रुपान्तरण न हो जाय, उसमें जब तक अपेक्षित सुधार न हो जाय, तब तक उपदेशों की प्रकृति, प्रवृत्ति और उनके सत्य में परिवर्तन की गुंजाइश कहाँ रहती है ? और यदि अपेक्षित रूपान्तरण एवं सुधार हो जाता है तब तो उपदेश की पूर्णता हो जाती है। भगवान महावीर ने कहा है– 'उद्देसो पासगस्स णत्थि' समझदार (दृष्टा) को उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। उपदेश की आवश्यकता यह है कि हमें एक ही उपदेश मिलता रहे, एक ही बात लगातार, बार–बार चेतना पर प्रहार करती रहे, जिससे परिवर्तन का आधार बने। जब रस्सी के बार–बार आने–जाने से कुएँ की शिला पर भी निशान पड़ जाते हैं, तब उपदेश की बार–बार आवृत्तियाँ कठोर से कठोर ह्रदय में भी संस्कारों के परिवर्तन की प्रक्रिया अवश्य संभव कर देगी। वह परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होगा, इसलिए मैं प्रभु के उस दिव्य संदेश में से ही जिस केन्द्रिय सूक्ति का चयन कर कह देता हूँ वह सूक्ति है 'असंखयं जीविय या पमायए' असंकारित जीवन है इसीलिए इस पर बार बार बल देने की जरुरत भी है। यदि जीवन संस्कारित बन जाए तो फिर उपदेश की आवश्यता ही नही रहेगी। यदि संस्कारित बन गए तो फिर प्रभु के दिव्य वचनों 'मा पमायए' –प्रमाद मत करो– का भी पालन हो जायेगा। अन्यथ यदि प्रमाद में, गफलतता में पड़ गए तो

जीवन नष्ट हो जायेगा। पतन की गहनतम स्थिति में पहुँच जायेगा। इसीलिए जब बार–बार कहा जायेगा कि तुम्हारा जीवन असंस्कारित है, उसे संस्कारित करो, तो कभी तो साधक को प्रेरणा मिलेगी कि मैं अब असंस्कारित नहीं कहलाऊँ, संस्कारित बनूँ। इस प्रकार वह संवेग पैदा होगा जिसे वैराग्य की संज्ञा दी गई है। यही संवेग जब गहरा जाता है तब संसार के बंधन छोड़ व्यक्ति साधु जीवन स्वीकार कर लेता है। साधु जीवन स्वीकार करने के बाद वह साधु जीवन की अर्चना में संयोजित हो जाता है।

प्रभु ने छः निश्रा स्थान कहे हैं जिसमे एक है छः जीव निकाय। इस जीवन के, इस शरीर के अस्तित्व में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके आधार पर ही यह टिका है, इनका सहकार नहीं मिले तो यह जीवन टिक नहीं सकता। यह आधारभूत है पर आज हम इन्हें समुचित महत्व नहीं दे रहे हैं। प्रभु ने दो क्रियाएँ बताई हैं एक अर्थ क्रिया और दूसरी अनर्थ क्रिया। अर्थ क्रिया के लिए जो होता है उसके लिए अर्थ दंड और जो अनर्थ क्रिया है उसके लिए अनर्थ दंड है। आपको लगेगा ये क्या बातें हैं। अर्थ क्रिया, अर्थ दण्ड ? अर्थ दण्ड क्या है ? अर्थ का अर्थ धन नहीं लेना है। यहाँ अर्थ से तात्पर्य है– जिसके बिना जीवन निर्वाह नहीं हो। जो जीवन के लिए आवश्यक है उसे अर्थ कहा गया है। उसके लिए जो क्रिया की जाय उसे अर्थ क्रिया कहते हैं। एक व्यक्ति परिवार में रहते हुए परिवार के लिए तथा समाज के लिए अपने जीवन के उत्तरदायित्वों का वहन करता है वह अर्थ क्रिया है। आनन्द श्रावक था, जिसका विशाल परिवार था और 40.000 पशु थे। आज तो एक दो पशु की सेवाचाकरी भी कठिन पड रही है। विचार कीजिये उसे उन पशुओं के लिए कितना चारा–पानी जुटाना पडता था। उसमें हिंसा होना स्वाभाविक था। श्रावक को वह हिंसा करनी चाहिये या नही ? वह हिंसा अर्थ क्रिया के अन्तर्गत आती है। उन पशुओं की सुरक्षा और उनके पालन पोषण का उत्तरदायित्व उस पर था। जहॉ घर में दस सदस्य होते हैं

उनकी कितनी जिम्मेदारी होती है। परन्तु वहाँ तो 40.000 का पशुधन था जिसको वे पारिवारिक सदस्य मानकर सुरक्षा करते थे। यदि उन्हें अपने आश्रित रखकर समय पर चारा–पानी नहीं देते, भक्त पान विच्छेद करते तो वह हितकर नहीं होता। वहाँ अतिचार का प्रसंग बनता। जहाँ अर्थ क्रिया का प्रसंग है। वहाँ 40.000 तो क्या 40 लाख या 40 करोड़ भी क्यों न हो अर्थ क्रिया करनी पड़ती है। अपने देश के प्रधानमंत्री की बात करें। वह यदि सम्पूर्ण देश के जनता के पालन की भावना लेकर चलता है, तो समझिये कि उसका परिवार कितना बड़ा है। 90 करोड़ तो पूर्व के अनुमानित आंकड़े थे अब तो उनमें वृद्धि हुई होगी। 90 करोड़ या 95 करोड़, चाहे जो भी हो, उनके लिए जो क्रिया करनी होती है यदि वह क्रिया प्रधानमंत्री तटस्थ भाव से, देश की या व्यक्तियों की सुरक्षा के लिए करता है तो वह अर्थ क्रिया है। चेडा महाराज 12 व्रतधारी श्रावक थे। कोणिक के साथ वे भी युद्व में आ डटे। पंचेन्द्रिय जीवों का कितना वध हुआ, भगवती में देखा जा सकता है। उसे अर्थ क्रिया कहा है। उन्होंने युद्व किया अनीति के प्रतिकार के लिए, वैभव या राज्य के विस्तार के लिए नहीं। अन्याय का प्रतिकार किया इसलिए वह अर्थ क्रिया थी।

इस सम्पूर्ण स्पष्टीकरण का कारण है। क्योंकि इसको समझने पर ही जीव निकाय को भी समझा जा सकेगा, जिनके आधार पर जीवन टिका हुआ है। इतनी विशाल जनता के लिए वह पृथ्वी, अप, तेउ, वायु आदि जीवों का जो उपमर्दन करता है, वह अर्थ क्रिया में है। पर यदि इससे हटकर वह निरर्थक यूं ही एक गिलास पानी व्यर्थ में गिरा दे तो यह अनर्थ क्रिया है। पीने, नहाने, कपड़े धोने आदि के लिए वह पानी गिराता है, वह अलग बात है। पर यूं ही बेवजह एक लोटा या एक गिलास पानी फेंक दे तो वह पानी की बरबादी है, अनर्थ क्रिया है। आज चारों ओर प्रदूषण के फैलने की चर्चा है। हर कहीं प्रदूषण पैर फैलाए सामने आता है इसका कारण क्या है ? जब

तक विस्तारवादी नीति चलेगी प्रदूषण बढ़ता रहेगा। आप भोजन करते हैं, चाहे जितना करें कोई बात नहीं। पर कईयों की आदत होती है झूठा छोड़ने की। पत्तल पर भोजन करते हुए काफी भोजन छोड़ दिया जाता है। वह बचा-खुचा भोजन जहाँ फेंका जाता है वहाँ सड़ान पैदा होती है, मच्छर पैदा होते हैं, प्रदूषण फैलता और बीमारी को प्रश्रय मिलता है। तीर्थंकरों ने छः जीव निकाय का स्वरूप बताया है। यद्यपि गृहस्थ जीवन में रहते इनके आरम्भ का सम्पूर्ण रूप से त्याग नहीं किया जा सकता तथापि मर्यादा तो की ही जा सकती है। पर मर्यादा पहले त्रस जीवों की की जानी चाहिये। यदि त्रस जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं और कहें 100 लीलोत्री के सिवाय सबका त्याग करवा दो तो वही बात होगी की तन पर तो कपड़ा नहीं लेकिन मस्तक पर पगड़ी सजा रखी है। यह ज्ञान होना चाहिये कि पहले कौन-सा कपड़ा पहनना आवश्यक है। पहले लज्जा ढ़कने के लिए धोती पेंट पहने, उसके बाद एक चादर शर्ट का जुगाड़ करे और फिर बाद में टोपी या पगड़ी धारण करे तो वह शोभायमान होगा। तन पर कपड़े नहीं और पगड़ी लगाकर बाजार में घूमे तो लोग हंसी ही उड़ाएंगे। इसी प्रकार यह भी अजीब बात होगी कि बारह व्रत, अहिंसा अणुव्रत तो स्वीकार किये नहीं और कहे- पांच दस लीलोती के सिवाय या स्थावर हिंसा के त्याग करा दो। यदि त्रस का अव्रत नहीं रोके और स्थावर की प्रतिज्ञा करे तो यह अन्य वस्त्रों के सिवाय सिर्फ पगड़ी ही धारण करने जैसी बात होगी। यह समझना कठिन नहीं है कि पहले नींव को मजबूत करना आवश्यक होता है। बच्चों की भांति नींव के बिना ही मिट्टी के महल बना दिए तो वे कब तक टिकेंगे। तभी तो प्रभु ने कहा है जीवन असंस्कारित है उसे संस्कारित करने की तैयारी करो। सर्व जन्तु हितकरणी करुणा-करुणा का स्रोत प्राणि मात्र के लिए प्रवाहित करो। ये छः जीवनिकाय साधु, श्रावक व प्रत्येक व्यक्ति के लिए आधारभूत है। साधु के लिए किस रूप में ? उसके निमित्त यदि प्राणियों का उपमर्दन करके भोजन, मकान आदि

बनाए जायें तो वे उसके लिए ग्राह्य नहीं हैं। एक दिन एक भाई बोल गए कि जल्दी–जल्दी समता भवन तैयार किया। पर बताइए कितना समय हुआ है इस भवन को बनाये। आप ही कह रहें हैं–लगभग 5 वर्ष। यदि नये रूप में भवन बनें या गच्छ, छत आदि चातुर्मास खुलने के बाद में पड़े तो वहां साधु चातुर्मास नहीं कर सकते। बीकानेर में सेठिया कोठड़ी में आचार्य देव के सन् 1973 के चातुर्मास में जनता समाती नहीं थी इसलिये एक गैलरी बनाई गई पर उस चातुर्मास में कोई भी साधु उसमें पैर नहीं रखता था। क्योंकि चातुर्मास खुलने के बाद बनने के कारण साधुओं के लिए उसका प्रयोग वर्जित था। परन्तु पुरुषान्तर कृत होने के पश्चात्, बाद में, जब आना हो तो साधु उसे प्रयोग में ले सकता है। क्योंकि वह साधु के लिए नहीं बनी थी जो मकान साधु के लिए बने उसे तो कभी भी उपयोग में नहीं लेना चाहिए। इसी प्रकार बताया गया है कि आधाकर्मी आहार (जो साधु के निमित्त बनाया जाय) सेवन करने वाले, अपने निमित्त आरंभ सभारंभ की स्थिति को जानते हुए भी यदि उस आहार को ग्रहण करे तो वह साधु संसार सागर से पार नहीं हो सकता बल्कि वह कर्मों का लेप बढाता जाता है। फिर ये जीव साधु के आधारभूत कैसे हुए ?

शरीर निर्वाह के लिए जो कुछ भी आहार के रूप में ग्रहण किया जाता है वह पृथ्वीकाय, अपकाय आदि के मृत कलेवर के रूप में होता है। उसमे पहले जीव रहे होते हैं पर गृहस्थ अपने लिए उनका उपमर्दन करके आहार तैयार करता है। इस प्रकार वह आहार उस उस जीव का कलेवर ही होता है, जिसने उस शरीर को बनाया था। यदि हमारे ऊपर कोई चोट करे तो हमें जितनी पीड़ा होती है उतनी पीड़ा उन पृथ्वीकाय आदि जीवों को भी होती है। आचारांग सूत्र में बताया गया है कि भले ही व्यक्ति बोल, सुन या देख नहीं सकता हो पर प्रहार से तो उसे पीड़ा होती ही है। उसी प्रकार पृथ्वीकाय आदि जो कोमल जीव हैं उन्हें भी प्रहार से प्रकम्पन्न

होता है तथा अध्यवसायों में उतार-चढ़ाव का वेदन अनुभूत होता है। पृथ्वीकाय आदि जो निश्रा स्थान हैं उनके प्रति हमारे भीतर उपकार्य भाव होना चाहिए। कृतज्ञ भाव लेकर चलें तो अनर्थ क्रिया नहीं होगी। पर हम इनका स्वरूप ही नहीं जानते। अनावश्यक प्राण व्यपरोपण से पाप का प्रसंग जुड़ता चला जाता है। छः जीव का उपमर्दन करते रहें और साधना की स्थिति में सार्थक प्रयोग नहीं किया तो, स्थिति क्या बनेगी ? यह अत्यंत विचारणीय है। साधु गृहस्थ के घर से फासुक एषणीय आहार लाकर उसे खा-पीकर यदि साधना में उद्यम नहीं करता है तो शांत क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय श्री गणेशाचार्य का संकेत मननीय है। वे फरमाया करते थे कि-

'गृहस्थी केरा टुकड़ा, लंबा-लंबा दाँत।
भजन करे तो उबरे, नहीं तो काटे आँत॥'

भोजन करके उसके अनुरूप भजन नहीं किया, साधना नहीं की, परमात्मा का स्मरण नहीं किया तो गृहस्थ का वह आहार लेना उसका सार्थक उपयोग नहीं होगा। गृहस्थ बच्चों को वस्तुएं नहीं देकर संतो को भक्तिभाव से, अहोभाव से बहराते हैं और संत वह खाकर आलस्य प्रमाद में समय बितायें तो वह हितावह नहीं होगा। उपकार्य भाव में भावना बनेगी कि अपने जीवन को साधना में, भक्ति में लगाऊँ। अन्यथा खा पीकर जिह्वा की तृप्ति के लोभ में पेट में पदार्थ डालकर चलते रहें तो साधना धूमिल हो जाएगी, नाव पलट जायेगी, पानी की गहराई में जीवन डूब जायेगा, कोई छुटकारा नहीं करा पायेगा। कहा भी गया है-

जरा कर्म देखकर करिए, इन कर्मों की बहुत बुरी मार है।
नहीं बचा सकेगा परमात्मा, फिर औरों का क्या एतबार है॥

भगवान महावीर ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में सीसा डलवाया, परिणाम स्वरूप भगवान के कानों में कीले ठोके गये, गजसुकुमाल मुनि के सिर पर तप्त अंगारे रखे गये। जैसे बीज बोये थे, वैसे ही

फल मिले। तीर्थंकर और चरम शरीरी जीव भी जब नहीं बच पाते तो हम किस खेत की मूली हैं ? कौन बचाएगा ? जैसा बोएंगे वैसा फल मिलेगा। भला करेंगे, भला मिलेगा, बुरा करेगा तो भलाई करने वाला नहीं मिलेगा।

बात चल रही थी छः जीव निकाय की। जब ये जीवन के लिए आधार भूत हैं तो उनका उपयोग करके उनके प्रति कृतज्ञ भाव होना चाहिये। उदाहरणार्थ यदि हम आहार करके उसका उपयोग साधना में नहीं करें तो वह उद्धार नही करेगा, बल्कि पाप की प्रेरणा का कारण बनेगा और घातक अवस्था का निर्माण करेगा। पृथ्वीकाय का आहार अर्थात् पृथ्वी के जीवों द्वारा मुकुले (त्यागे) पुद्‌गलों का आहार, उसके बारे में क्या आप कहेंगे कि हम मिट्टी–पत्थर खाते हैं ? तब यदि बहनें साग में नमक डालना भूल जायें तो बहनों की खींचाई तो नहीं की जायेगी, थाली को उलट कर या कटोरी को उछाल कर क्रोध तो नहीं किया जायेगा ? विचार तो करो, जीवन में कितना नमक खा लिया, पर नमक के अर्थात् पृथ्वी के गुण आये या नहीं ? शास्त्रों में कहा गया है– 'पुढ़विसमे मुणी हविज्जा' पृथ्वी के समान हो जाये। जैसे पृथ्वी का कोई मान करे या अपमान, फूल बरसाये या अशुचि कर दे, समभाव रखती है वैसे ही साधक सर्वत्र समभाव रखे।

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पसंसासु, तहा माणवमाणओ।।

उत्तराध्ययन सूत्र 19/91

लाभ–हानि, सुख–दुःख, जीवन–मरण, निन्दा–प्रशंसा और मान–अपमान में समभाव रखता है वह मुनि है। मुनि हो या गृहस्थ, सुखाभिलाषी के अध्यवसायों में उतार चढ़ाव नहीं आना चाहिये। पृथ्वीकाय के मुकुले पुद्‌गल तो लेते हैं, उनके गुण नहीं लेते। इसलिए जीवन असंस्कारित रह जाता है। हम स्वयं अपने आप को टटोलें कि हम कितने असंस्कारित हैं। पर कोई हमें असंस्कारित कह

देता है तो उत्तेजना आ जाती है। सत्य बात सुनने में उत्तेजना लाने की क्या बात ? पृथ्वी का उपकार है तो पृथ्वी के गुण भी आने चाहिये। पृथ्वी के समान सहनशील बनना चाहिये ताकि हमारी तितिक्षा पर कोई लांछन न लगा सके। इतना नमक खाया है तो जीवन में उसका ऋण भी चुकायें। अपकाय के मुकुले पुद्गल हम ग्रहण करते हैं। अपकाय अर्थात पानी को चाहे कैसी भी परिस्थिति में रखा जाय वह प्रतिकार नहीं करता बल्कि अपना मार्ग बनाता चलता है। चाहे चट्टान भी खड़ी हो जाये तो भी घबराएँ नहीं। वेदवाक्य के अनुरूप 'चरैवेति–चरैवेति' को ध्यान मे रखते हुए, जल के अनुरूप अपने संस्कारों को ढ़ालें। शरीर में जलीय भाग 57 प्रतिशत है और कोई कहते हैं 70 प्रतिशत है तो उसके अनुपात में संस्कार भी आने चाहिये। अग्निकाय के संस्कार कैसे ग्रहण करें ? अग्नि का उपकार इस रूप में है कि वह भोजन पकाने में और शीत में ताप देने का काम करती है। मनुष्य अग्नि का उपयोग करता है। वह अपने–आप में एक परम शक्ति है। उस शक्ति से प्रेरणा लें और हार्दिक ऊष्णता को बनाये रखने का कार्य करें। अग्नि के संबंध में कहा गया है–

"अग्गी विवा सव्वभक्खी भविता"– अग्नि सब खा जाती है। सर्व भक्षी होती है। उसी तरह साधु को चाहिए कि चाहे कोई निन्दा करे, गालियां दे, चुगली करे, कषायों की बौछार करे, वह समभाव से सब स्वीकार कर ले लोगों ने अर्जुनमाली अणगार की। ऐसा कह–कह कर इसने मेरे पिता को मारा, मां को मारा भर्त्सना की/प्रहार किये पर उन्होंने प्रतिकार नहीं किया, किसी ने गाली की बौछार की, किसी ने पत्थरों से मारा, किसी ने लकड़ी से, पर उन्होंने अग्नि का गुण अपना लिया, सारा ताप पी गये। हम भी सर्वभक्षी बनें, क्रोध, बैर, अहंकार आदि की आग को पी जायें। ये गुण नहीं आये तो जीवन संस्कारित कैसे होगा ?

वायुकाय के समान बनें, वायुकाय के लिए कहा है– "चन्दन

तरू हरि संत समीरा।" चंदन के वृक्ष जंगल में होते हैं समीर उसकी खुशबू को चतुर्दिक फैलाती हैं। हवा नहीं तो खुशबू कैसे फैलेगी ? संतो को भी चाहिए तीर्थंकरों की वाणी प्रसृत करें। एक एक व्यक्ति के मन को प्रभु की देशना से आप्लावित करें। वायुकाय के संस्कार अपनायें। यह नहीं कि श्रावकों को प्रसन्न करने के लिये मनोरंजन की बातें करने लगें और सत्य कहने से इसलिये बचें कि कहीं श्रावक नाराज न हो जायें। यदि ऐसा विचार किया तो कर्तव्य पालन कैसे कर पायेंगे ? वनस्पतिकाय को 'दीर्घलोक' कहा है। इस लोक में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहां वनस्पति न हो। ऐसी वनस्पति के मुकुले पुद्गल ग्रहण करते हैं तो अपने व्यक्तित्व को भी उसके समान विराट बनाइये। त्रसकाय को भी सुख दुःख की अनुभूति होती है। इसलिये "सर्व जन्तु हित करणी करूणा' के माध्यम से दूसरों को भी सुखी वनाने का प्रयत्न करें। प्रश्न होगा त्रस के मुकुले पुद्गल का उपयोग कैसे होता है ? श्रावक द्वारा तो जूते आदि के रूप में किसी प्रकार उपयोग होता है और साधु के द्वारा बीमारी आदि के प्रसंग में चर्म के उपयोग करने का प्रसंग बनता है। उनके द्वारा दूध का उपयोग किया जाता है और औषध के रूप में गौमुत्र का उपयोग भी किया जाता है। छः जीवनिकाय का हम पर उपकार है। यदि हम इन्हें नहीं बचायें, इनके प्रति हमदर्दी नहीं रखें तो कृतज्ञता कैसे ज्ञापित होगी ? जीवन निर्वाह के लिए कई रूपों में इनकी हानि करनी पड़ती है। वहाँ अर्थ क्रिया है पर अनावश्यक रूप से फूल पौधों को नष्ट करना जहाँ घातक है, वहीं वह अनर्थ क्रिया भी है जिससे प्रभु ने वचने का संकेत किया है। कृतज्ञ भाव जागने पर जव अवशिष्ट पदार्थों का व्यर्थ उपयोग नहीं होगा। उन्हें फेंकना पड़ेगा तब आत्मा में पीड़ा होगी। तपस्वीराज श्री अमरमुनिजी म. सा. को जब कभी भोजन पानी भी व्यर्थ में डालना पड़ता था तो उन्हें पीड़ा होती थी। वे कहते थे कि कितने जीवों का उपमर्दन होने पर यह बना है। इसकी बरबादी करने पर अजीव काय का असंयम होता है।

वैसे भी उपकारी के प्रति उपकार्य भाव नहीं रखना अकृतज्ञता है। जब नैतिक धरातल पर भी यह त्याज्य है तो फिर धार्मिक क्षेत्र में उपादेय कैसे हो सकता है ? हमें पहले नैतिक बनना होगा, फिर धार्मिक और उसके पश्चात् आध्यात्मिक। धर्म के पश्चात् आध्यात्म का शिलान्यास होता है। यदि हमें धार्मिक और आध्यात्मिक बनना है तो आवश्यक है कि अर्थ क्रिया और अनर्थ क्रिया का स्वरूप समझ कर हम आज से ही जीवन में अनर्थ क्रिया से बचने का अभ्यास प्रारंभ कर दें तथा इसे जीवन में प्रतिदिन अपनाने का अभ्यास करें। ऐसा स्वभाव बना लेने पर ही हमें शांति की अनुभूति होगी, तथा प्रत्येक प्राणी के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित होगा। तादात्म्य भाव का आनंद अनूठा होता है। आह्लाद भावों के साथ ही प्रभु की प्रार्थना से आत्मा में शीतलता की अनुभूति जागृत करने का सफल अभ्यास करें, तभी हम शीतल जिनपति की उपासना के सच्चे अधिकारी बनेंगे और तभी यह प्रार्थना करना भी सार्थक होगा–

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी।
विविध भंगी मन मोहे रे॥

OO

दि. 08.10.96



13. संस्कारिता जीवन की आवश्यकता

शीतल जनपति लसित त्रिभंग्नी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रो।।

असंस्कारिता जीवन का मूल स्वभाव नहीं है परन्तु आज उसे स्वभाव मान लिया गया है। कहा जाता है कि मनुष्य तो कमजोरियों का पुतला है। To err is human अर्थात् गलती करना मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव है। अंग्रजी की यह कहावत इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। यह भी कहा जाता है कि मनुष्य इन्द्रियों का दास है, वे उसे जिस और खीचंतीं हैं उसी और वह चल पड़ता है। मनुष्य के स्वभाव के संबंध में ऐसी भ्रान्तियाँ अनादि काल से चल रही हैं। उक्त प्रकार यदि मनुष्य का स्वभाव मान लिया जाता है तो उसका भी कारण है। परन्तु उसका ज्ञान न होने से मनुष्य के स्वभाव के संबंध में भ्रान्तिपूर्ण चित्रन अमरबेल की तरह फैल गया है और मनुष्य के जीवन के रस को अर्थात् मनुष्य में ईश्वर के निवास के चित्रन को वह लगातार सोखे जा रहा है। परिणामस्वरूप असंस्कारिता को फैलने के लिये विस्तृत क्षेत्र मिल गया है और अब तो असंस्कारित अवस्था को हमने सहचरी भाव के रूप में संयोजित कर लिया है जिससे उसके साथ साहचार्य स्थापित हो गया है और तद्नुरूप भाव भीतर भी बनने लगे हैं। इसलिए कहा गया है कि सत्संगति करो। संतो की संगत करो, असंस्कारित पुरूषों की नहीं। अन्यथा जैसी संगत होगी वैसा ही जीवन का विकास होगा। लता के स्वभाव के संबंध में हम जानते हैं कि उसे अन्य आधार की जरूरत होती है। यदि उसे छोटे डंडे का आधार मिला तो वह वहीं तक उठेगी। यदि लम्बे बांस का सहारा मिला तो वह भी उस ऊँचाई तक उठ जायेगी। हम कई बार विहार के दौरान देखते हैं कि जिस लता को थोड़ा सहारा देकर कच्चे मकानों की छत पर चढ़ा दिया जाता है, वह लता छत पर अपना फैलाव कर लेती है।

इस प्रकार अवसर के अनुरूप वह फैल जाते हैं। यदि हमें भी फैलाव करना है तो हमें भी वैसा ही अवसर ढूँढना होगा। अब तक हम अज्ञान में रहे, हमें ज्ञान नहीं था। जैसा सहयोग मिला उसी में झूलते—खेलते चले गये परिणाम स्वरूप आत्मा पर दया, अनुकम्पा, करुणा नहीं कर पाये। अब हमें बोध हुआ है। अब हम समझने लगे हैं कि हम पर—पुद्गलों से ठगाया जाता रहा हूँ। कहा जाता है—'ठगोरी काया तूने ठग ठग खाया!' संत कवि कबीरदास ने लिखा है—

माया महाठगिनी हम जानी,
तिरगुन फाँस लिये कर डाले, बोले मधुरे बानी।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी॥

कैसे ठगा है, आप समझते हैं। इस पौद्गल काया ने आत्मा रूपी काया को ठगा है। जरा विचार कीजिये आप किसी दुकान पहुँचे, मालूम पड़ा कि यहाँ ठगाई होती है तो क्या दूसरी बार आप वहाँ जाएँगे ? सहसा समझदार व्यक्ति ठगाने के लिए वहाँ नहीं जायेगा। वह तो सम्पर्क में आने वाले से भी कहेगा— उस दुकान पर ठगाई होती है, वहाँ मत जाना। पर आपकी इस दुकान में ठगाई हो रही है और आप इसे अपनाये बैठे हैं। काया ठग रही है, पर न जाने कैसी दोस्ती हमने इससे बना रखी है। हमें ठगते हुए यह हमारे भीतर का रस चूस रही है, विकृति पैदा कर रही है और हम इन सबसे बेखबर हैं। आज आत्मा को पीड़ा हो रही है उसका कारण क्या है। जरा इस पर विचार करें ? विकारी तत्वों का हमने सहारा लिया और वे आत्मा में घुल मिल गए। वे भी अनायास दोस्त नहीं बन जाते। जो आपको ठगना चाहता है वह पहले आपको अपने विश्वास में लेता है। विश्वास में लिये बिना ठगाई नहीं हो सकती। विश्वास में लेकर, दोस्ती बढ़ाकर, हमारा थोड़ा हित साधकर फिर ठगाई करता है। ये पौद्गलिक तत्व पहले हमें जिस थोड़े सुख या आनंद की अनुभूति कराते हैं वस्तुतः वह सुख नहीं होता बल्कि पुद्गलों की, कर्मों की पैंतरेबाजी

होती है। पुद्गलों का साथ कहीं छूट न जाय इसलिये कर्म सुखाभास के पैंतरे फैंककर उन्हें अपने अधीन कर लेता है। अधीन बनाकर आत्मा का दोहन करते हुए वह विषैले चिंतन को प्रोत्साहित करता है। परिणामस्वरूप हमारी जीवन शक्ति कुंठित होती जाती है। जीवनी शक्ति प्रकट नहीं हो पाती और व्यक्ति समझ नहीं पाता कि क्या हो रहा है ? वैज्ञानिक आश्चर्य चकित हैं कि कैसे 3 लाख 62 हजार क्लोरोराइड कार्बन आकाश में जाकर ओजोन छतरी में छिद्र करने लगे हैं। वैज्ञानिक तो इसी दिशा में चिन्तन कर सकते हैं क्योंकि यही उनकी सीमा है। आत्मा तक उनकी पहुँच नहीं है और जहां तक पहुंच होती है, वहीं तक चिंतन किया जा सकता है। परंतु आप विचार करें कि हमारे भीतर क्लोरोराइड कार्बन कितना बनता है जो आत्मा तक पहुंच रहा है। क्योंकि उसी के कारण व्यक्ति दुःख, द्वंद्व, तनाव आदि से ग्रस्त रहता है। परिवार में भी उसे चैन नहीं मिलता, वह परिवार से कटा–कटा रहता है। अलगाव और निराशा की यह स्थिति एक प्रकार का चिड़चिड़ापन पैदा कर देती है। परिणामस्वरूप समाज से भी वह अपने को कटा हुआ अनुभूत करता है।

सूनापन, समाज में एकाकीपन, हताशा आदि के भाव हममें क्यों बनते हैं? क्या इसका हम कभी अन्वेषण करते हैं ? ये प्रभाव क्यों हमें ग्रस्त कर रहे हैं? इसके लिए आवश्यकता है स्वस्थ चिन्तन की। स्वस्थ चिन्तन तब ही बन सकता है जब हम अवस्थाओं से उपरत होकर स्वस्थ स्वरूप की ओर उन्मुख हों। व्यक्ति कहता है– आत्मा दिखती नहीं है उसके कैसे दर्शन करें ? पर ऐसे आग्रही चिंतन से दर्शन नहीं होंगे। मोतियाबिंद के प्रांरभ में नहीं लेकिन जब वह पकने की स्थिति में पहुँच जाता है तब सामने कौन है, यह दिखाई नहीं देगा। यदि दिखेगा भी तो बहुत धुंधला दिखेगा। ये स्वाभाविक स्थिति नहीं है बल्कि विभाव है। इसी प्रकार असंस्कारों का मोतियाबिन्द आत्मदर्शन में अवरोधक है।

मैं जानूं हरि दूर है, हरि हिवड़े के मांय।
आड़ी टाडी कपट की तां सूं दीखत नांय॥

हरि भीतर है पर हमने दीवार चुनली है, बीच में पार्टीशन लगा दिया है, अतः पर्दे के पार कौन बैठा है, यह नहीं देख पा रहे हैं, न ही उसकी अनुभूति कर पा रहे हैं। जैसे मोतियाबिन्द से ग्रस्त आँखों का ऑपरेशन कराना पड़ता है उसी प्रकार आत्म दर्शन में बाधक जो तत्व है उसका आपरेशन करना आवश्यक है। उस आपरेशन में पैसे की फीस देनी होती है जो जमा करा सकते हैं। पर यहाँ फीस पैसों की नहीं है, श्रद्धा की है, समर्पणा की है। श्रद्धा समर्पणा यदि अंतर में प्रादुर्भूत हो जाये तो उसी उपकरण से आध्यात्मिक मोतियाबिन्द का सफाया किया जा सकता है और आत्मदर्शन की क्षमता प्राप्त की जा सकती है। तब सच्ची अनुभूति मिल जावेगी। श्रद्धा के शस्त्र से आपरेशन होने के बाद बाहर की ज्योति, जब भीतर प्रवेश कर जायेगी तब उसके आलोक में हम आत्मदर्शन कर पायेंगे। तथा अपने स्वभाव में स्थित हो पायेंगे। दर्शन तो जब मिलेंगे तब मिलेंगे, पर हमें उस गुणमय व्यक्तित्व को सदैव सन्मुख रखना चाहिये जिससे देव, गुरू और धर्म के प्रति अविचल श्रद्धा का श्रोत हमारे भीतर उद्भूत होता रहे। कामदेव श्रावक के उदाहरण से समझें, कितने उपसर्ग उस पर आए पर उसकी अडिग श्रद्धा और अविचल समर्पणा बनी रही। यही धर्म था। यह धर्म तभी हमारी रक्षा कर सकता है जब हम इसकी रक्षा करें। कहा भी है– धर्मो रक्षति रक्षितः।

आज व्यक्ति कहता है– इतना धर्म करते हैं फिर भी धर्म हमारी रक्षा नहीं करता। यह संकुचित चिन्तन है। जरा सोचें की हम धर्म को कब तक स्थान देते हैं। थोड़ी सी प्रतिकूलता आई और हम विचलित हो जाते हैं, सारी प्रतिज्ञाएँ भूल जाते हैं। क्या यही धर्म का स्वरूप है ? यही गुरू का स्वरूप है ? एक व्यक्ति ने साधु जीवन स्वीकार कर लिया, हो गया वह आपका गुरू। पर क्या हम जानते हैं

कि गुरू का स्वरूप क्या है ? इस तथ्य को समझें। चार प्रकार के भंग बताये गये हैं– 1. एक व्यक्ति ने साधु जीवन स्वीकार कर लिया पर साधुचर्या का पालन नहीं करता। 2. एक व्यक्ति साधुचर्या का पालन करता है पर उसने साधु जीवन स्वीकार नहीं किया। 3. एक ने साधु जीवन स्वीकार भी किया और साधुचर्या का पालन भी करता है। 4. एक न तो साधु जीवन स्वीकार करता है न साधुचर्या का पालन करता है। इन चारों में जो साधु जीवन स्वीकार करके साधुचर्या का पालन करता है, वही है गुरू। वह नहीं, जिसने साधु जीवन स्वीकार तो कर लिया पर साधु धर्म की पालना नहीं करता। जो भावों से साधु जीवन का पालन तो करता है पर जिसने साधु की पोषाक धारण नहीं की उसे भी व्यवहार में, गुरूपद के लिए स्वीकार नही किया जा सकता। व्यवहार में लिंग की भी अपेक्षा है। "लोगे लिंग पओयणं" लिंग का भी प्रयोजन है। श्रद्धा के लिए, विश्वास के लिए, इसका विशेष रूप से प्रावधान है। ऐसा इसलिए है कि कदाचित् वह निरुत्साहित हो जाय, उसके पाँव लड़खड़ाने लगें तो पोशाक की लज्जा से ही वह पुनः स्थित हो जाय। इस प्रकार स्पष्ट है कि जो व्यक्ति साधु जीवन स्वीकार करके उसकी मर्यादा की पालना भी करता है वही गुरु–पद के योग्य है। ऐसे गुरु को, तथा धर्म को स्वीकार करके हम संस्कारित बन सकते हैं। तब हम समझ लें कि जब हम त्याग की एवं धर्म की रक्षा करेंगे तभी वह धर्म हमारी सुरक्षा करेगा। अन्यथा धर्म के नाम पर लम्बी चौड़ी ड़ीगें हाँकते रहे परन्तु परस्थितियों के साथ समझौता कर धर्म को किनारे रख दें तो हमारी सुरक्षा संदिग्ध हो जायेगी। हम जानते हैं कि सेठ सुदर्शन के लिए शूली का सिंहासन बन गया था। क्या उनकी परीक्षा नहीं हुई थी ? महाराज ने अनेक प्रकार से पूछा, पर वे दृढ़ रहे थे। एक बार आसाम में एक आंदोलन हुआ। आसाम के दो भाग हैं– एक भाग कछार है जहाँ बंगला भाषा का प्रयोग होता है दूसरे भाग में असमी भाषा प्रयुक्त होती है। असम सरकार ने यह निर्णय लिया कि सम्पूर्ण राज्य

के कामकाज में असमी भाषा का ही प्रयोग किया जाय। बंगालियों को यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने निर्णय लिया हम अपनी मातृभाषा नहीं छोड़ सकते। वहाँ नारे भी जारी हुए "रक्तों दीवो, जान दीवो, भाषा दीवो ना।" हम रक्त.और जान देने के लिए तत्पर हैं पर अपनी भाषा नहीं देंगे। आज स्थिति यह है कि हम रक्त जान तो दूर, धर्म तक देने के लिए तैयार हो जाएंगे। हम कह सकते हैं, जान रह गयी तो धर्म फिर और कर लेंगे पर जरा ये तो सोचो जो धर्म आपके पास से चला गया वह फिर आयेगा कैसे ? ऐसे क्षणों में हम धर्म छोड़ने को तत्पर हो जाते हैं, पर धर्म पर दृढ़ रहने की तैयारी नहीं करते। याद रखने की बात है कि धर्म रक्षा करता है और जिसकी वह रक्षा करता है, उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता–

जाको राखे साइयाँ, मार सके न कोय।
बाल न बांका करि सके, जो जग वैरी होय॥

सेठ सुदर्शन यदि कुछ कह देता तो भी वहाँ धर्म की हानि नहीं हो रही थी। पर उसने विचार किया, मैं पौषध व्रत में हूँ। आत्मा का पोषण कर रहा हूँ। अपनी आत्मा के समान सभी की आत्मा को मान रहा हूँ। यदि मैं महारानी अभया के लिए कुछ कहता हूँ तो उन्हें पीड़ा होगी, उनकी पीड़ा मेरी आत्मा की अपनी पीड़ा है। विचार करें, आज हम भी जब पौषध करते हैं तब कहीं थारी म्हारी दुनियादारी में तो नहीं पड़ जाते हैं ? यदि ऐसा करते हैं तो कहाँ रह जाता है धर्म और पौषध। सुदर्शन मौन में अवलंबित रहे। शूली का आदेश हुआ, फिर भी अविचल। जान चली जायेगी तो चली जायेगी, पर धर्म नहीं छोड़ूंगा। हम तो छोटी छोटी बात पर धर्म छोड़ने के लिए तत्पर हो जाते हैं। जिस धर्म को हम नहीं रखेंगे वह धर्म हमारी रक्षा कैसे करेगा ? धर्म के अभाव में ऋद्धि टिक नहीं पायेगी। घर में ऋद्धि नहीं होती तो क्लेशमय वातावरण बनता है।

इस संबंध में एक प्रसंग है। राजा भोज मार्ग से निकल रहे थे।

एक ब्राह्मण के घर के भीतर कोलाहल हो रहा था। राजा भी सुनने लगा। घर में तीन प्राणी थे ब्राह्मण, उसकी पत्नी और माता। पर तीनों त्रिकोण के तीन कोणों की भाँति अलग–अलग थे। राजा ने ब्राह्मण को दरबार में बुलाया– तुम्हें किस बात का दुःख है ? उत्तर मिला– घर मे माता कहती है– तू दिन भर बैठा रहता है। कमा–धमा कर नहीं लाता, रोटी बनाऊँ कहाँ से, निर्वाह कैसे होगा ? मैं कमाने जाऊँ तो जाऊँ कैसे, पेट में गड्ढे पड़ रहें है। भूखे काम नहीं होगा। पत्नी के बारे में कहता है– जबसे यह कर्कशा आई है, सारी सम्पति खा गई। पत्नी ने कहा था– जब से घर में आई हूँ कभी न राता पहना न ताता खाया। पति कहता है इस चण्डिका ने सर्वनाश कर दिया।

राजा के द्वारा झगड़े का कारण पूछने पर ब्राह्मण कहता है मुझे मालूम नहीं, झगड़ा क्यों होता है। पर मेरी माता से नहीं बनती, माता की मेरे से नहीं बनती। बहू की सास से और सास की बहू से नहीं बनती और हम पति पत्नी में भी छत्तीस का आंकड़ा है। राजा समझ गया कि घर में धन नहीं है इसीलिए झगड़ा है। राजा ने भंडारी से 1000 मोहरें ब्राह्मण को दिला दी। उसके बाद जब उस मार्ग से निकला तब उसने देखा कि उस घर में क्लेश नहीं था। शीत वातावरण था। जीवन जब तक असंस्कारित है क्लेश फैला रहेगा। संस्कारों की ऋद्धि आई, मोतियाबिन्द हटा, फिर हम आत्मदर्शन कर पाएंगे।

यह तो एक रूपक है। सुसंस्कार धन हैं। यदि परिवार जन सुसंस्कारित नहीं हैं तो परिवार में क्लेश, अशांति और असंतोष की स्थितियाँ बनी रहेंगी। लेकिन जैसे ही कोई शुभचिंतक सुसंस्कारों के बीज बो देगा, वैसे ही जीवन में शांति, व्यवस्था, संतोष और आनंद की स्थितियाँ बन जायेंगी। असंस्कार ही मोतियाबिन्द हैं, जो आत्मदर्शन में बाधा उत्पन्न करते हैं। संस्कार आये, मोतियाबिन्द का ऑपरेशन हुआ, ऋद्धि आयी कि आत्म साक्षात्कार और शांत जीवन की स्थितियाँ बन गई।

दि. 09.10.96

14. अहं का विष वृक्ष

शीतल जनपति लसित त्रिभंग्नी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रो॥

तीर्थंकर देव प्रभु महावीर ने केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन का आलोक प्राप्त किया और उस आलोक में चराचर जगत् के समस्त पदार्थों का ज्ञान भी उपलब्ध कर लिया। उसी ज्ञान से उन्होंने यह भी जाना कि भव्य जीवों के लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर है। और कहा कि तुममे इतना ज्ञान नहीं है कि तुम यह सब समझ पाओ। क्योंकि तुम्हारा जीवन असंस्कारित है। इस असंस्कारित अवस्था में यदि आलस्य और प्रमाद में पड़े रहे तो जो ज्ञान होना चाहिए उसे भी तुम उपलब्ध नहीं कर पाओगे। एक तो जीवन है असंस्कारित, फिर उसमें भी प्रमाद का पुट तो वह गर्त में ही ले जाने वाला होगा। उत्कर्ष को प्राप्त नहीं करायेगा। प्रमाद, अधोगामी बनाता है। इसलिये उसके उर्ध्वगामी परिणाम नहीं निकलते। अधोगामी गति, दिमाग के फितुरों और शेख चिल्ली की कल्पनाओं को जन्म देती हैं। प्रमादी व्यक्ति करता–धरता कुछ नहीं, कल्पनालोक में ही विचरण करता रहता है। जब वह कुछ करता–धरता ही नहीं तो किसी भी प्रकार का लाभ भी कैसे हो सकता है। एक व्यक्ति मिठाई के या आहार के विषय में विचार ही करता रहे तो इतने मात्र से उसका पेट नहीं भरेगा। भोजन करने पर या मिठाई मुंह में रखने पर ही उसका जायका मिल पायेगा। यदि कोई व्यक्ति हलवाई की दुकान में दिन भर बैठकर पचासों प्रकार की मिठाईयाँ देखता रहे, जिन्हें पहले कभी उसने चखा नहीं हो तो वह वहां गंध तो भले लेता रहे पर उनका स्वाद कैसा है यह वह बता नहीं पायेगा। बता भी कैसे पायेगा जब उसने आस्वाद कभी किया ही नहीं।

तीर्थंकर प्रभु हमें असंस्कारित कह रहे हैं, इसका कारण है

हमने लायब्रेरी तो सजाली है पुस्तकों की, या अक्षर ज्ञान तो प्राप्त कर लिया है पर कभी अध्ययन का निवाला भी नहीं लिया। किताबों का ज्ञान तो किताबों में ही रह जायेगा आपके पल्ले क्या पड़ेगा ? ऐसा ज्ञान तो कम्प्युटर या टी. वी. को भी हो जाता है। आज ऐसे भी कम्प्युटर हैं जिनमें हमारे शास्त्र भर दिए गए हैं। आप प्रारंभ के दो अक्षर दे दीजिए, कम्प्युटर उन दो अग्र अक्षरों की सारी गाथाएँ एक साथ निकालकर दे देगा। वैसे ही आपने अपने दिमाग में यदि कम्प्युटर फिट कर लिया है, तो आपकी क्या विशेषता ? वह तो भरे थाल की भांति पड़ा रहेगा, आपके किस काम का। प्रमाद में पड़ने पर चाहे कितना भी किताबी ज्ञान हो, तीर्थंकर की देशनारूप मिठाई भी मिल गई हो, और आप देख–देख कर प्रसन्न भी होते रहें कि हमारे पास इतनी मिठाई है। पर जब चखी ही नहीं तब उसके होने की उपयोगिता क्या ? आपके पास तिजोरी है पर उसे खोल नहीं पाये तो उसमें बन्द सम्पदा क्या काम आयेगी। परन्तु हम उसी पर गौरवान्वित हो रहे हैं। हम कहते हैं कि तीर्थंकरों द्वारा प्रदत्त प्रचुर आगम, साधन मौजूद हैं, पर हकीकत में हम साथ क्या ले जाने वाले हैं। वहाँ जब गणित करेंगें, हिसाब लगाएंगे तो जिन्दगी के उन उत्तर क्षणों में रोना ही रह जायेगा। तब सोचेंगे मैंने महापुरूषों की सेवा तो की पर जीवन को असंस्कृत ही रखा। मैंने चखा क्या, लिया क्या ? कुछ नहीं ले पाया यह पश्चाताप रह जायेगा।

एक व्यक्ति नदी किनारे दिन भर बैठा रहे तो बैठे रहने से प्यास नहीं बुझेगी। इसीलिये प्रभु कह रहे हैं कि असंस्कारित जीवन है और फिर प्रमाद में बैठे रहे, तो नदी का प्रवाह तो निकल जायेगा। अतः प्रमाद छोड़ो, पाने की कोशिश करो। व्यक्ति सोचता तो बहुत है परं क्या सोचने मात्र से कोई उपलब्धि हो सकती है ? एक राजा ने सोचा एक अनोखा बगीचा लगवाऊँ। जहाँ सम्पत्ति का योग होता है वहाँ कल्पना को मूर्त रूप देने में देर नही लगती। विचारों के अनुरूप

राजा ने एक बगीचा लगवाया, जिसमें अनेक पौधे थे। ये पौधे आम, खजुर आदि के नहीं सत्य, धर्म, भक्ति, ईमानदारी, प्रेम, स्नेह और करूणा के थे। उन पौधों की सुरक्षा राज़ा स्वयं की निगरानी में करता और नियमपूर्वक खाद पानी बराबर देता। निरन्तर कर्मठ सेवा से वे पौधे लहलहाने लगे। थोड़े ही समय में राजा का बगीचा ही नहीं बल्कि उन अद्भुत पौधों के कारण सारा नगर सुहावना लगने लगा। कोई भी वहां पहुंचता तो मुग्ध हो जाता। वह एक ऐसा नगर बन गया, जहां असत्य, बेईमानी जैसे कोई दुर्गुण नहीं थे। बात कल्पना की नहीं वास्तविकता की करते हैं। भारत वर्ष एक समय ऋषि–भूमी कहलाता था। तब यहाँ सत्य, प्रेम, त्याग, धर्म, अध्यात्म आदि के पौधे लहलहाते थे। आज स्थिति बदल गई है। भक्ति व धर्म के तो पौधे फिर भी लहलहाते दीख रहे हैं परन्तु उस भक्ति व धर्म का स्वरूप विकृत हो गया है। उनके सच्चे स्वरूप को जानने की स्थिति भी कम हो गई है। कितने दुःख की बात है कि उस देश में आज अभक्ष्य एवं व्यसन का सेवन हो रहा है। एक समय यहां दूध दही की नदियाँ बहती थी, आज शराब की नदियाँ बह रही हैं। छुटपुट अपवाद आज भी मिल जाते हैं जैसा प्रवास के दौरान एक आदर्श गोठन के पास सड़क पर ही बसे पटेलों के गांव में दिखाई दिया। व्यसनों पर बात चली, संतों के उपदेश भी हुए, गांववालों ने बताया कि हमारे गाँव में एक भी दुकान ऐसी नहीं है जिसमें बीड़ी, सिगरेट, तम्बाखू मिलता हो। यदि कोई बाहर का मेहमान भी आये तो वह बीड़ी, सिगरेट का सेवन नहीं कर सकता। परन्तु ऐसे गाँव कितने हैं? आज तो स्थान–स्थान पर चौराहों पर, दुकानों पर, बीड़ी, सिगरेट, गुटखों के पाउच लटके दिखाई दे जाएंगे। बड़े शहरों में तो अण्डों से भरी ट्रे और पिंजरों में बंद पक्षी भी बिकते हुए दिख जायेंगे। जरा सोचें कि कहाँ जा रही है हमारी स्थिति, शक्तियों का स्रोत किधर बह रहा है।

राजा ने देखा कि सारा वातावरण आह्लादमय था। वह नगर

में घूमा तो फूल कर कुप्पा हो गया। सारे नगर की ख्याति आसपास फैल चुकी थी। एक दिन वह घूमते–घूमते बगीचे में जा पहुँचा। उसने एक नया पौधा देखा, जिसे रोपा नहीं गया था। वह स्वतः पैदा हुआ था। वह पौधा देखने में सुन्दर तथा मन को भाने वाला था। राजा ने सोचा– पड़ा है पड़ा रहने दो। कटा कर क्या करूँ। कुछ ही दिनों में वह पौधा बढ़कर वृक्ष में परिणत हो गया। राजा ने प्रमाद किया था। परिणामस्वरूप उस वृक्ष ने अपनी जड़ें जमा ली थीं। अब उसमें फल भी आ गये इतने सुन्दर कि व्यक्ति देखकर बरबस ही उनकी और आकृष्ट होते। एक दिन राजा ने देखा बगीचे की सारी सुरम्यता नष्ट हो रही थी। भयंकर बदबू आ रही थी। राजा विचार मग्न हो गया, यह बदबू कहाँ से आ रही है ? वह चारों ओर घूमा। एक जगह तो मानो नाक फटने लगी। ओफ। मैंने प्रमाद किया इसी कारण थोड़े से समय में ही सारी बगिया का वातावरण दूषित हो गया। यह इन सुन्दर फलों का ही प्रभाव है। आखिर ये कौन से फल हैं ? यह किसका वृक्ष है ? राजा ने नगर के प्रबुद्ध जनों को बुलाया और उनसे भी पुछा। उन्होंने भी कहा हम भी नहीं जानते कि यह किसका वृक्ष है। राजा ने सोचा जानकारी तो करनी चाहिये। संयोग से भ्रमण करते हुए एक संत पधार गए। राजा को जिज्ञासा थी ही और सुना कि संत फक्कड़ हैं, पहुंचे हुए हैं अतः जिज्ञासा लेकर पहुंचा उनके पास। उपासना करने के पश्चात् कहने लगा– भगवन ! एक प्रश्न का समाधान चाहता हूँ। संत ने कहा– बोलो भाई, क्या प्रश्न है ? राजा ने अद्योपान्त सारी बात कह दी और पूछा उस सुन्दर किन्तु दुर्गन्धयुक्त वृक्ष का नाम क्या है ? संत ने पूछा– क्या मैं वहाँ चल सकता हूँ ? राजा ने हाँ कर दी और संत के साथ पैदल ही उस ओर चला। अचानक भयंकर दुर्गन्ध से नाक फटने लगी। राजा ने तो कपड़ों से नाक ढ़ंक ली किन्तु संत अपनी मस्ती में चलते रहे। वृक्ष के पास पहुँच कर राजा ने कहा– महात्मन् यही है वह वृक्ष। महात्मा ने देखते ही कहा यह वृक्ष तो विष वृक्ष के रूप में पहचाना जाता है।

[illegible] गया है कि कृष्ण लेश्या की गंध कैसी होती है। मृत सर्प के [illegible] के सड़ने पर कैसी गंध आती है, वैसी गंध कृष्ण लेश्या के [illegible] से पैदा होती है। तीर्थंकर के भावों में वासना नहीं होती। [illegible] विष वल्लरियाँ, विष वृक्ष नहीं होते। इसी कारण उनके [illegible] दुर्गंध नहीं आती।

एक व्यक्ति के पास आप घंटों बैठ सकते हैं और एक के पास [illegible] को भी जी नहीं करता। सुबाहुकुमार का वर्णन सुन कर [illegible] कह रहे हैं– क्यों लगता है कि सुबाहुकुमार बैठा रहे। [illegible] आचार्य भगवन की सेवा में बैठते हैं तब यदि 6 घंटे भी [illegible] तो मालूम नहीं पड़ता कि 6 घंटे निकल गये। नहीं तो [illegible] 2 [illegible] बिताना भी मुश्किल पड़ता है। एक शराबी के पास 2 [illegible] लगेगा यह जल्दी जाये तो अच्छा। एक [illegible] और एक के संबंध में चाहते हैं कि वह शीघ्र [illegible] भीतरी मन के कारण। संत ने राजा को बता [illegible] प्रमाद के कारण बढ़कर उसने प्रेम, सत्य, [illegible] नष्ट कर दिया था। असंस्कारों के कारण [illegible] और इस कारण सारी जनक को [illegible] अकृत्रिम होते भी यदि सामान्य [illegible] नहीं आती। हमारे भीतर [illegible] असंस्कारों की छाया है। एक तो [illegible]

यह काली घटा दूर हो सकती है और सुसंस्कारित जीवन के सान्निध्य से परिष्कार संभव हो सकता है। इस संबंध में मनोवैज्ञानिक ने खोज की है पर वे भी अभी सफलता से काफी दूर हैं। हम जानते हैं कि जैसे ही सूर्य पूर्व दिशा में आता है धरती का कमल पूर्व दिशा में अपना मुंह कर लेता है, और खिल जाता है। ज्यों–ज्यों सूर्य पश्चिम की ओर गति करता है त्यों–त्यों उसकी दिशा का अनुगमन करता है। सांझ होते ही सूर्य जब अस्ताचल की ओर चला जाता है। तब कमल का मुंह भी पश्चिम दिशा में हो जाता है और सूर्यास्त होते ही कमल भी बंद हो जाता है। किसने बतलाया कमल को यह सब ? किरणों में जो शक्ति और क्षमता भरी होती है, कमल उसे प्राप्त कर लेता है। विचार करें कि हमने सूर्य की किरणों से कितना लाभ उठाया है ? कोई तो सूर्य को पीठ दिखाता है, कोई जल अर्पण करता है। पर उससे शक्ति लेने की तत्परता कितनों की बनती है ? पात्रता हो तो शक्ति का लाभ मिल सकता है। पात्रता नहीं है तो चाहे कितनी ही शक्ति बरस रही हो हम उसका लाभ नहीं ले पाएंगे। नल बह रहा है पर पात्र नहीं है, तो नल किसे भर पायेगा ? हृदय–कमल गुणों की किरणों से विकसित हो सकता है, यदि अंतर का सच्चा अनुराग हो तो। अनुराग नहीं तो हृदय–कमल विकसित नहीं हो पायेगा। प्रभु महावीर के पास गोशालक, संगम भी आये पर क्या वे किरणों का लाभ उठा पाये ?

प्रभु ने विचार किया मेरे पास से कोई खाली नहीं गया, लेकिन संगम खाली जा रहा है। हम सोचते हैं कि क्या कारण है कि आज धर्म की बात तो होती है पर असर नहीं होता ? असर हो सकता है यदि अपना पात्र खोलें। हम यदि घड़े पर कटोरी का ढ़क्कन लगा दें तो चाहे कितना ही पानी क्यों न बहे, कितने ही घंटे, दिन, वर्ष और युग क्यों न बीत जायें, घड़ा नहीं भरेगा। पानी में घड़ा भरने की क्षमता है पर घड़ा ही अपने ऊपर कटोरी ऊंधी मारकर बैठा रहे तो

वह कैसे भरेगा ? केवल किताबी ज्ञान से असंस्कार दूर नहीं होंगे। त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण में कितनी विनय थी। आज तो व्यक्ति को नगर का चेयरमैन ही बना दिया जाय तो वह फूल कर बादशाहत में आ जायेगा। क्षुद्र मानसिकता से ग्रस्त व्यक्ति अपने आप को ही सर्वशक्तिशाली समझता है। कृष्ण अपनी प्रत्येक माता को प्रणाम करते थे। आज कितने भाई चरण वंदन करते हैं ? कहेंगे यह पुराणपंथी परम्परा हमें पसंद नहीं है। इन बुड्ढों को क्या आता है। जी हाँ, आप तो बहुत जानते हैं। यह है असंस्कृत जीवन का नमूना। असंस्कृत अवस्था को दूर करने की भावना कैसे जागेगी ? किताबी ज्ञान प्राप्त कर लिया पर असंस्कारों को दूर नहीं किया तो आपने कुछ नहीं जाना। उस नाविक और शास्त्रज्ञ लोगों का उदाहरण आँखें खोलने वाला हो सकता है। उन विद्वानों ने नाविक से पूछा– तुमने साहित्य, दर्शन, अध्यात्म, ज्योतिष शास्त्र पढ़े हैं या नहीं ? उसने कहा मैंने तो कुछ नहीं पढ़ा। उन्होंने कहा– अरे तुमने जीवन का आठ आना भाग खो दिया। नाव चलती रही। नाव बीच भंवर में पहुंची। तूफान की संभावना देखकर नाविक ने उन शास्त्रविदों से पूछा– तैरना जानते हैं या नहीं ? उन्होंने कहा तैरना तो हमें नहीं आता। नाविक ने कहा– तैरना नहीं जानते हो तो समझो कि सम्पूर्ण जीवन बेकार हो गया। हमने भी यदि भवसागर में तैरना नहीं जाना तो इस संसारी अवस्था में भटकन होती रहेगी। तैरने की कला सीखें तो तिर पायेंगे। ये थपेड़े तो आयेंगे, तरंगें कभी नीचे की ओर ले जायेंगी तो कभी ऊपर उठा लेंगी। डूब गये तो फिर किनारा कैसे मिलेगा ? इसलिए प्रभु कह रहे हैं– असंस्कृत जीवन से प्रमाद दूर करो। पता नहीं कहाँ गिरोगे, कहाँ जाओगे। प्रभु के हृदय में कितनी करूणा है, कितना स्नेह, कितना प्रेम, कितना अहोभाव है। इसीलिए वे सम्बोधित कर रहे हैं– तू भी मेरी आत्मा के समान है। प्रमाद को, असंस्कारों को दूर हटा। इनकी चादर को लपेटे रखा तो यह और काली होती जायेगी।

नैतिक जीवन सुरक्षित नहीं तो फिर धार्मिकता कैसे सुरक्षित रहेगी ? सूर्य के आने पर भी हृदय कमल विकसित नहीं हुआ तो कैसे लाभ उठा पाओगे। हमने तो धर्म, श्रद्धा, भक्ति को पोशाक मान रखा है। जैसे चादर फटी तो उतार कर दूसरी धारण कर ली। इस तरह बदलते रहें तो समझ लीजिये कि हमारे भीतर न सच्ची श्रद्धा है, न सच्ची भक्ति है। धर्म वही है जो जीवन का संस्कार करे। हृदय कमल में किरणों का प्रवेश करायें अन्यथा विष वल्लरी जीवन को दुर्गन्ध से परिपूर्ण कर देगी। यदि उसे नहीं पनपने दिया तो जीवन का आमूलचूल परिवर्तन हो सकता है। अहं विनाश का मूल है। वह जीवन रस को सुखा डालता है। अहंकारी के पास कोई नहीं फटकता क्योंकि इसकी संगति वैसे ही अकुंर पैदा करती है। धर्म, भक्ति इसके साथ नहीं रह सकते, यदि रह गये तो निष्क्रिय हो जायेंगे, कुम्हला जायेंगे उनकी कल्याणवृत्ति नष्ट हो जायेगी। हम अपना अंतर टटोलें। देखें कि धर्म, भक्ति और श्रद्धा के पौधों के बीच कहीं अहं का विष वृक्ष तो अंकुरित नहीं हो गया है। जीवन को दुर्गन्धयुक्त बनाने वाले ऐसे तत्व न आयें तो ही अच्छा है, यदि असावधानीवश आ भी जायें तो प्रमाद न करें अन्यथा जीवन बरबाद हो जायेगा। प्रभु का हम पर बहुत उपकार है। उनकी कृपा के सूर्य की रश्मियों से हमारा हृदय कमल विकसित हो तो वह एक अनोखी प्रक्रिया होगी, अद्भुत परिणमन होगा, अंतर में शांति–संतोष की अनुभूति होगी। पर यह तभी होगा जब वह विष वृक्ष न पनपे। अहं व प्रमाद के विष वृक्ष का अंकुरण सर्वनाशकारी सिद्व होगा। अप्रमत्त रहें तो वह वृक्ष पैदा ही नहीं होगा और असंस्कारों की काली चादर हटाकर हम परमात्म पद प्राप्त कर सकेंगे। तब शीतल जिनपति की ललित त्रिभंगी हमारा मन मोह सकेगी और हृदय–कमल विकसित हो सकेगा। सत्य, प्रेम, स्नेह, करूणा जैसे शुभ भावों के पौधे अपने अंतर में अंकुरित कीजिये, जिससे इस भव में ही आपका उद्धार हो

OO दि. 10.

15. अनंत में प्रवेश का मार्ग

शीतल जनपति लसित त्रिभंग्नी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रो॥

काल का प्रवाह निरन्तर गतिमान है। हम भी उसी की तरंगों में निमज्जित हो रहें हैं तथा उसी के प्रवाह में बहते चले जा रहे हैं। हम जानते हैं कि बाढ़ आयी सरिता के प्रवाह में अनेक पेड़, पौधे, झोपड़े आदि भी गति करते बह आते हैं, उनका चलना तो होता है पर वह यथार्थ में गति नहीं होती। पानी के वेग के कारण उनकी क्रिया होती है, चलना होता है, पर वे सभी स्वयं बेसुध होते हैं। उन निर्जीव वस्तुओं को तो ज्ञान नहीं होता पर उनके साथ ही वे अनेक मनुष्य व दूसरे प्राणी भी बह आते हैं। जो उस प्रवाह में फँस जाते हैं, ये जीवित प्राणी प्रवाह में बहते चले जाते यदि कभी विचार लें कि हमने बहुत गति कर ली तो वह उनका अज्ञान होगा। क्योंकि वह यर्थाथ में गति नहीं होती। गति तभी होती है जब कोई उद्देश्य या लक्ष्य निर्धारित कर विशिष्ट दिशा में बढ़ने का प्रयास किया जाता है। लक्ष्य नहीं तब तक वह गति, गति नहीं होती। अनादिकाल से यह आत्मा मिथ्यात्व में पड़ा इसी प्रकार गति कर रहा है। उसने संसार सागर में बहुत डुबकियाँ लगाई, बहुत चला पर बिना अपनी मंजिल तय किये। मंजिल की बात पूछने पर वह निरूत्तर हो जाता है। मंजिल कौन सी है ? वह कहेगा अभी तो मैंने निर्धारित ही नहीं की है, कुछ सोचा भी नहीं कि मुझे कहां जाना है। है न अजीब बात ?

एक व्यक्ति ने नई कार खरीदी, और स्टार्ट कर चल पड़ा। कई किलोमीटर की दूरी भी तय कर ली, कितना ही तेल भी जला डाला। जिधर कोई सड़क या मोड़ दिखाई दिया, गाड़ी उधर ही दौड़ा दी। कुछ व्यक्तियों ने देखा कि एक ही मार्ग पर यह चार, पाँच बार गाड़ी चला चुका है, क्या बात है ? या तो यह रास्ता भटक गया

है या किसी अन्य टोह में है। दाल में कुछ काला लगता है ? किसी ने पूछा क्यों भाई, तुम्हें कहाँ जाना है ? जवाब मिला– पता नहीं। पता नहीं फिर भी गाड़ी चला रहा है। कभी–कभी ऐसी स्थिति बन जाती है। शौक होता है कि नई गाड़ी है जरा घूम लूं। बच्चों को नई साइकिल मिली। उनका उद्धेश्य होता है सिर्फ खेलना। यों ही राउण्ड पर राउण्ड लगाते रहें। यही बच्चों का खेल हमारी आत्मा अनादि से खेल रही है। इस खेल में कभी डुबकी लगा ली, कभी ऊपर आ गये, पर मंजिल के बारे में सोचा ही नहीं। इस भटकने को ही वह मंजिल अथवा उद्धेश्य मान लेता है। अनायास सजी ऐसी महफिलों में वह मशगूल हो जाता है। यदि उससे पूछा जाय– इतने मशगूल क्यों हो तो वह कहता है मुझे कहाँ जाना है, क्या करना है, यही सब तो करना है, और क्या करना है। इसीलिए प्रभु ने कहा है 'असखयं जीविय मा पमायए।' तुम्हारा जीवन असंस्कारित है। क्योंकि तुमने मंजिल को ही नहीं जाना, लक्ष्य ही स्थिर नहीं किया। हम भी सोचें कि हमारी साधना का क्या लक्ष्य है ? सामायिक, धार्मिक अनुष्ठान आदि करते हैं पर लक्ष्य के सम्बंध में अस्पष्ट होते हैं। कोई पूछता है तो सुनी बात के आधार पर कह देते हैं कि मोक्ष जाना है। कोई पूछे मोक्ष कहाँ है तो हम थोड़ी उलझन में पड़ जाते हैं। उसकी जानकारी ही नहीं है अतः हम स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाते। जब कि हमारा लक्ष्य है 'अनंत में प्रवेश'। आप कहेंगे यह कौन सी बात है ? अब तक हम सीमित दायरे में रहे। विचार, गति, क्रिया सब सीमित दायरे में ही संपन्न करते रहे। तब असीम को कैसे समझें। निश्चित रूप से आप ससीम रहे। आप दर्शन के लिए पहुँचते हैं तब बीकानेर, भीनासर या अन्य कोई स्थान सीमा बन जाता है। फिर वापस मुड़ जाते हैं। यह है ससीम में प्रवृत्ति। जब तक सीमित प्रवृत्ति में रहेंगे, अनादि प्रवाह से मुक्त नहीं हो पायेंगे। अनादि प्रवाह से मुक्त होना है तो लक्ष्य बनाना होगा, मंजिल निर्धारित करनी होगी और वह मंजिल है 'अनंत में प्रवेश'। क्या है अनंत में प्रवेश इसे समझें।

एक बालक जन्म लेता है उसे कुछ ज्ञात नहीं होता कि क्या करना है। थोड़ा बड़ा हुआ साथियों के साथ खेल खेलना, भूख लगे तो दूध पीना, फिर खेलना यहीं तक उसकी क्रियाएँ सीमित हो जाती है। आगे बढ़ा, विद्यालय में प्रवेश हुआ तो कुछ परिवर्तन आया। नये परिवेश में प्रांरभ में तो व्यवस्थित नहीं हुआ पर मानस पर ये भाव अंकित होते गये कि विद्यालय जाना है। अब उसका लक्ष्य बन गया कि मुझे प्रतिदिन विद्यालय में पहुंचना है। समय होते ही टैम्पो आ जाता, वह भी तैयार खड़ा रहता क्योंकि विद्यालय पहुँचने का उद्धेश्य निर्धारित हो गया था। वहाँ से निकला, कालेज का लक्ष्य बना। इस प्रकार टुकड़ों–टुकड़ों में उसका लक्ष्य बनता बदलता है। यदि उससे पूछा जाय कि अध्ययन क्यों कर रहे हो तो जवाब मिलेगा परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए। अब डिग्री प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है। उसके बाद अध्ययन से कोई सरोकार नहीं रह जाता। बहुत कम व्यक्ति जीवन–निर्माण के लिए उस अध्ययन को व्यवहार में ला पाते हैं। कौरव–पांडवों का अध्ययन चल रहा था। नीति का एक पद था 'कोपम् मा कुरू' अर्थात् क्रोध मत करो। द्रोणाचार्य ने सबको अध्ययन कराते हुए पूछा, सभी ने धड़ाधड़ पाठ उच्चारित कर दिया। धर्मराज ने कहा– मुझे अभी पाठ याद नहीं हुआ है। यह नहीं कहा कि कंठस्थ नहीं हुआ है। यह दर्शाया कि अभी गहरे में नहीं पैठा है। कंठ तो ऊपर होता है, याद गहरे में होती है, धारणा तक पहुँचाने वाली होती है। कंठाग्र की स्थिति गहरे में हो भी, न भी हो। दो, तीन, दिन निकल गये और उन्होंने यही कहा–याद नहीं हुआ है। द्रोणाचार्य ने चांटा जड दिया– तुम सबसे बड़े राजकुमार हो, न जाने कितनी भावनाएँ संजोयी हुई है। राजा बनोगे और इतना सा पाठ याद नहीं हुआ ? युधिष्ठिर ने कहा– हॉ थोड़ा सा याद हुआ है कुछ कच्चा कुछ पक्का। फिर रहस्य प्रकट किया। बताया कि केवल कंठाग्र की बात नहीं है, आपने चॉटा लगाया तो थोड़ा सा आवेश आया लेकिन शीघ्र शांत हो गया। तो मुझे लगा अभी पूरा याद नहीं हुआ है। 'कोपम् मा

कुरू' थोड़ा क्रोध आ गया। द्रोणाचार्य ने विचार किया, विद्यार्थी तो इतने हैं पर इस प्रकार का अध्ययन करने वाला यह एक ही है। पर इस प्रकार जीवन निर्माण का लक्ष्य रखकर चलने वाले बहुत कम होते हैं। हमारी भी गति, प्रवृति हो रही है। धर्म क्षेत्र में भी आते हैं पर अनंत में प्रवेश के लिए तैयारी कैसी है यह पता नहीं।

यहाँ दो बातें समझ लेने की हैं। अनंत में प्रवेश करना है तो सीमा को लांघना होगा। यदि सीमा लांघने की तैयारी नहीं है तो अनंत में प्रवेश संभव नहीं होगा। कहा जाता है कि बुद्ध को जब बोधि वृक्ष के नीचे बोध प्राप्त हो गया तब वे कहने लगे– 'हे तृष्णे ! अब तुम्हें मेरे लिए घर बनाने की आवश्यकता नहीं, किसी प्रवेश की आवश्यकता नहीं।' सत्य तो यह है कि– हमारी तृष्णा ही नये–नये आकार बनाती है। बाहर कुछ करें या नहीं पर कल्पनाओं में नये–नये नक्शे निर्मित जरूर करती है। यह ध्यान रहे कि तृष्णा और लोभ में अंतर है। तृष्णा से लोभ का जागरण होता है। तृष्णा भीतर की चाह है, पास में चाहे कुछ न हो पर तृष्णा की लम्बी दौड़ चलती रहती है। जो प्राप्त है उसके प्रति लोभ का जागरण होता है। अप्राप्त के प्रति कल्पनाओं का गृह निर्माण तृष्णा के कारण होता है। बुद्ध ने कहा– हे तृष्णे ! तुम्हें अब मेरे लिए घर बनाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारे इन नये–नये नक्शों में बहुत उलझा हूँ, फंसता चला गया हूँ। हम जानते हैं कि यदि रेशम की डोर में गांठ पड़ जाये तो उसे सुलझाना कठिन होता है। इधर खोलो तो उधर पड़ जायेगी। यही हालत बना देती है तृष्णा। वह व्यक्ति को असीम नहीं बनने देती, अनंत में प्रवेश नहीं करने देती, सीमा में बांधती है। घर के, परिवार के, समाज के नये–नये आकार बनाती है। आकार तो सीमित होते हैं, पर उनमें तब तक ही कुछ जुड़ सकता है जब तक व्यक्ति अधूरा है। क्योंकि उसमें जोड़ने की चाह है। बुद्ध ने कहा था– तृष्णे ! मैं अनंत में प्रवेश कर रहा हूँ, कदम बढ़ गए हैं, मुझे सीमा की जरूरत नहीं

एक बालक जन्म लेता है उसे कुछ ज्ञात नहीं होता कि क्या करना है। थोड़ा बड़ा हुआ साथियों के साथ खेल खेलना, भूख लगे तो दूध पीना, फिर खेलना यहीं तक उसकी क्रियाएँ सीमित हो जाती है। आगे बढ़ा, विद्यालय में प्रवेश हुआ तो कुछ परिवर्तन आया। नये परिवेश में प्रांरभ में तो व्यवस्थित नहीं हुआ पर मानस पर ये भाव अंकित होते गये कि विद्यालय जाना है। अब उसका लक्ष्य बन गया कि मुझे प्रतिदिन विद्यालय में पहुंचना है। समय होते ही टैम्पो आ जाता, वह भी तैयार खड़ा रहता क्योंकि विद्यालय पहुँचने का उद्धेश्य निर्धारित हो गया था। वहाँ से निकला, कालेज का लक्ष्य बना। इस प्रकार टुकड़ों–टुकड़ों में उसका लक्ष्य बनता बदलता है। यदि उससे पूछा जाय कि अध्ययन क्यों कर रहे हो तो जवाब मिलेगा परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए। अब डिग्री प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है। उसके बाद अध्ययन से कोई सरोकार नहीं रह जाता। बहुत कम व्यक्ति जीवन–निर्माण के लिए उस अध्ययन को व्यवहार में ला पाते हैं। कौरव–पांडवों का अध्ययन चल रहा था। नीति का एक पद था 'कोपम् मा कुरू' अर्थात् क्रोध मत करो। द्रोणाचार्य ने सबको अध्ययन कराते हुए पूछा, सभी ने धड़ाधड़ पाठ उच्चारित कर दिया। धर्मराज ने कहा– मुझे अभी पाठ याद नहीं हुआ है। यह नहीं कहा कि कंठस्थ नहीं हुआ है। यह दर्शाया कि अभी गहरे में नहीं पैठा है। कंठ तो ऊपर होता है, याद गहरे में होती है, धारणा तक पहुँचाने वाली होती है। कंठाग्र की स्थिति गहरे में हो भी, न भी हो। दो, तीन, दिन निकल गये और उन्होंने यही कहा–याद नहीं हुआ है। द्रोणाचार्य ने चांटा जड़ दिया– तुम सबसे बड़े राजकुमार हो, न जाने कितनी भावनाएँ संजोयी हुई है। राजा बनोगे और इतना सा पाठ याद नहीं हुआ ? युधिष्ठिर ने कहा– हाँ थोड़ा सा याद हुआ है कुछ कच्चा कुछ पक्का। फिर रहस्य प्रकट किया। बताया कि केवल कंठाग्र की बात नहीं है, आपने चाँटा लगाया तो थोड़ा सा आवेश आया लेकिन शीघ्र शांत हो गया। तो मुझे लगा अभी पूरा याद नहीं हुआ है। 'कोपम् मा

कुरू' थोड़ा क्रोध आ गया। द्रोणाचार्य ने विचार किया, विद्यार्थी तो इतने हैं पर इस प्रकार का अध्ययन करने वाला यह एक ही है। पर इस प्रकार जीवन निर्माण का लक्ष्य रखकर चलने वाले बहुत कम होते हैं। हमारी भी गति, प्रवृति हो रही है। धर्म क्षेत्र में भी आते हैं पर अनंत में प्रवेश के लिए तैयारी कैसी है यह पता नहीं।

यहाँ दो बातें समझ लेने की हैं। अनंत में प्रवेश करना है तो सीमा को लांघना होगा। यदि सीमा लांघने की तैयारी नहीं है तो अनंत में प्रवेश संभव नहीं होगा। कहा जाता है कि बुद्ध को जब बोधि वृक्ष के नीचे बोध प्राप्त हो गया तब वे कहने लगे– 'हे तृष्णे ! अब तुम्हें मेरे लिए घर बनाने की आवश्यकता नहीं, किसी प्रवेश की आवश्यकता नहीं।' सत्य तो यह है कि– हमारी तृष्णा ही नये–नये आकार बनाती है। बाहर कुछ करें या नहीं पर कल्पनाओं में नये–नये नक्शे निर्मित जरूर करती है। यह ध्यान रहे कि तृष्णा और लोभ में अंतर है। तृष्णा से लोभ का जागरण होता है। तृष्णा भीतर की चाह है, पास में चाहे कुछ न हो पर तृष्णा की लम्बी दौड़ चलती रहती है। जो प्राप्त है उसके प्रति लोभ का जागरण होता है। अप्राप्त के प्रति कल्पनाओं का गृह निर्माण तृष्णा के कारण होता है। बुद्ध ने कहा– हे तृष्णे ! तुम्हें अब मेरे लिए घर बनाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारे इन नये–नये नक्शों में बहुत उलझा हूँ, फंसता चला गया हूँ। हम जानते हैं कि यदि रेशम की डोर में गांठ पड़ जाये तो उसे सुलझाना कठिन होता है। इधर खोलो तो उधर पड़ जायेगी। यही हालत बना देती है तृष्णा। वह व्यक्ति को असीम नहीं बनने देती, अनंत में प्रवेश नहीं करने देती, सीमा में बांधती है। घर के, परिवार के, समाज के नये–नये आकार बनाती है। आकार तो सीमित होते हैं, पर उनमें तब तक ही कुछ जुड़ सकता है जब तक व्यक्ति अधूरा है। क्योंकि उसमें जोड़ने की चाह है। बुद्ध ने कहा था– तृष्णे ! मैं अनंत में प्रवेश कर रहा हूँ, कदम बढ़ गए हैं, मुझे सीमा की जरूरत नहीं

है। शीतलनाथ भगवान की करूणा भी सीमित नहीं है। वह अनंत में प्रवेश कर गई है।

यदि हम यह मान लेते हैं कि हमारा लक्ष्य ससीम को छोड़कर अनंत में प्रवेश करना है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम परिवार लेकर चल रहे हैं उसका भी उत्तरदायित्व हम पर है। उन जवाबदारियों को कैसे छोड़ दें। इस संबंध में दो बाते हैं– छोड़ा भी जा सकता है, नहीं भी छोड़ा जा सकता। क्योंकि जवाबदारी दो प्रकार की होती है। पहली यह कि आपके आश्रित प्राणी आपके आश्रय में हैं, आपके अधीन हैं। अर्थात् उन्हें आपकी जरूरत है। दूसरी यह कि परिवार वालों ने तो नहीं पर हमने यह मान रखा है कि उन्हें हमारी आवश्यकता है। दोनों में अंतर है। आप दूसरा मत मानकर चलते हैं पर यह मानना असंगत है। जब वे आश्रित नहीं तो आप उस कर्त्तव्य से ऊपर उठकर अनंत में प्रवेश के लक्ष्य की ओर बढ़ सकते हैं। पर जहां परिवार आप पर आश्रित है, बच्चे छोटे हैं, ना समझ हैं अथवा वृद्ध, रुग्ण आदि की सेवा के लिए आपकी उपस्थिति अनिवार्य है, दूसरा सार संभाल करने वाला नहीं है तो ऐसी स्थिति में तीर्थंकरों का स्पष्ट कथन है कि यदि एक ओर संवत्सरी पौषध का प्रसंग है और दूसरी ओर आश्रित को समय पर दवा भोजन आदि देने का, तो वहाँ पौषध भी गौण हो सकता है। प्राथमिकता आश्रित की सार संभाल की है। कोई सोच ले कि वे मरें चाहे जियें मुझे तो पौषध करना है तो समझ लीजिये कि उसके भीतर दया नहीं, करूणा नहीं और यदि ये ही नहीं तो पौषध की आराधना कैसे करेंगे? अहिंसा की पौध को सींचने के लिए पौषध है। पर जब आप पौधे को ही उखाड़ देंगे तो चाहे कितना ही पानी डालो वह व्यर्थ है। पर जहाँ आप दायित्व का बोध लेकर चलते हैं वहाँ स्थिति बदल जाती है। जैसे खंभा है, उसके पास आपने जूते खोल रखे हैं। जाते हुए जूते पहनें और खंभा पकड़ लें। फिर कहें खंभा मुझे छोड नहीं रहा है जबकि आप स्वयं खंभा

छोड़ नहीं रहे हैं। आज लोगों की पकड़ ऐसी ही है, स्वयं छोड़ना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में आप एक खंभे तक ही स्थित रह जाएंगे। अनंत में प्रवेश नहीं होगा। भगवती सूत्र में श्रावक के लिए भी कहा है कि उसे लक्ष्य तक पहुँचना है पर वह बीच में पड़ाव भी कर सकता है। उसके लिए वह आकांक्षा स्वर्ग की, पुण्य की भी करता है। इस संबंध में पू. गुरूदेव (आचार्य श्री नानेश) द्वारा अक्सर दिया जाने वाला दृष्टांत हमारा मार्गदर्शन कर सकता है। वे फरमाते थे– जैसे एक व्यक्ति विदेश या कहीं अन्यत्र जाने की तैयारी से घर से रवाना हुआ। रेल्वे स्टेशन दूर है, पैदल नहीं जा सकता। तो वह टैम्पों की या अन्य किसी साधन की आकांक्षा करता है। फिर रेल्वे स्टेशन पहुँचकर रेल से यात्रा करता है। बीच में उसे ट्रेन की बदली भी करनी पड़ती है। मान लीजिए वह दिल्ली पहुँचा, उसे मालूम हुआ कि अगली गाड़ी 8 घंटे बाद मिलेगी तो वह प्लेटफार्म पर ही पड़ा नहीं रहता। परिवार की सुरक्षा की दृष्टि से विश्रामगृह की आकांक्षा करता है। विश्रामगृह में 8 घंटे का समय बिताकर पुनः यात्रा करके वह गंतव्य को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अनंत में प्रवेश मूल उद्धेश्य तो हो पर दूरी अधिक हो तो पड़ाव के रूप में। वह स्वर्ग और पुण्य का भी कांक्षी होता है। उसकी वह आकांक्षा उस मंजिल को, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए है न कि मूल लक्ष्य को भूलाने के लिए होगें। प्रवेश से पूर्व तृष्णा को शांत करना होगा। तृष्णा तो श्रृंखला पैदा करती है। आप तो सभ्य समाज के हैं। पर जो आदिवासी समाज के लोग हैं वे भी उस तृष्णा की पूर्ति के लिए मनौतियाँ मानते हैं। यदि मेरा अमुक कार्य हो गया तो मैं अमुक प्राणी की बलि चढ़ाऊँगा। अनंत में प्रवेश के लिए आपको भी बलि चढ़ानी होगी, बलिदान करना होगा। वहां बलि चढ़ानी होगी 'माता की और संतान की', तब अनंत में प्रवेश होगा। इस रूपकात्मक कथन को समझना होगा। ऐसा नहीं कि महाराज ने बलि चढ़ाने की बात कही है तो घर जाकर माता का गला मरोड़ दिया कि महाराज कोई गलत थोड़ी कहेंगे। आज ऐसे ही

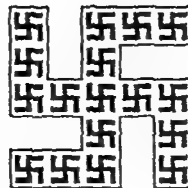
बातें पकड़ ली जाती है। कभी कहते हैं कि देवी के सामने बलि देने से बकरा स्वर्ग में जाता है। यदि ऐसा ही है तो पहले स्वयं को ही स्वर्ग क्यों नहीं ले जाते ? पर मूक प्राणियों की कौन सुने ? वह तो कहता है मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये। तब समझना होगा कि बलि कैसे दी जाय। माता की बलि ? माता का स्वरूप क्या है ? माता एक पद है और हमारी जन्मस्थली है। जो जन्मस्थली है वह है भूतकाल। संतान बाद में होती है। माता भूतकाल है और संतान भविष्य है। भूत और भविष्य की बलि देने के बाद अनंत में प्रवेश होगा। भूत का कितना चिन्तन करते हैं और भविष्य के बारे में क्या दृष्टि रखते हैं यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। अनंत में प्रवेश के लिए भविष्य का भी बलिदान करना होगा। क्योंकि वर्तमान ही भविष्य को पैदा करता है। भविष्य की बलि दे दी तो फिर कोई बचा ही नहीं। पंजाब में कहा जाता है– 'सत श्री अकाल, जो बोले सो निहाल।'

सत्य क्या है। जो काल से व्यतीत हो गया, जो काल की सीमा में आबद्ध नहीं है। जो अकाल में अर्थात काल रहित अवस्था में चला गया, वह निहाल हो गया। असीम को उपलब्ध हो गया। परं है कहाँ तैयारी ? हम हर बात में सीमा बनाकर रखते हैं परन्तु जब तक सीमा की सुरक्षा होती रहेगी अनंत में प्रवेश नहीं होगा। काल की बलि देकर ही अनंत में प्रविष्ट हो सकेंगे। यदि चाहत है तो सारी तृष्णा, भूतकाल जनित भावनाओं और भविष्य की आकांक्षाओं को तिरोहित करना होगा। फिर अनादि के प्रवाह में नहीं बहेंगे और तब उस अनंत में चरण विन्यास होगा जहाँ अन्त नहीं है। सिद्धों का सादि अनंत भंग है, जिसका प्रारंभ तो है अन्त नहीं है।

एक भंग है अनादि अनंत का, उसमें मजे की बात नहीं। एक भंग का स्वयं निर्माण करो। अनादि काल से गोते लगा रहे हो। विविध भंगी के, अनादि अनंत में ही रहे, तो कोई बलिहारी नहीं। पर एक अन्य प्रकार का मोर्चा है जिस पर विजय प्राप्त करनी है। बड़े–बड़े

योद्धा भी उस मोर्चे पर टिक नहीं पाते। यदि वहाँ बाजी मार ली, आदि कर ली तो फिर अनंत में प्रवेश हो सकेगा। सिद्धों की आदि है। प्रभु महावीर का निर्वाण हुआ कार्तिक बदी अमावस्या की रात्रि को जब वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निराकार बनें। वह आदि का समय था, आदि सहित थे पर अब कितने काल तक उस स्वरूप में बने रहेंगे ? अब वे अनंत में प्रवेश पा चुके हैं। हम भी अनंत में चरण विन्यास करना चाहते हैं तो भूत और भविष्य की समस्त महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि देनी होगी। फिर काल की सीमा से अतीत हो जायेंगे, यही हमारी साधना का, आराधना का उद्धेश्य है। यही लक्ष्य है। जिस दिन उस दिशा में प्रस्थित होंगे उस दिन से जीवन की छाप हटती चली जायेगी, और फिर हम संस्कारित, परिमार्जित हो गंतव्य को प्राप्त करेंगे। प्रमाद हट जायेगा, अनंत बन जायेंगे। वहाँ काल का प्रभाव नहीं रहेगा। शाश्वत, नित्य, अवस्थित पर्याय होगी। साहस पूर्वक तृष्णा का त्याग कर निर्धारित पथ पर गति हो तो निश्चित रूप से एक दिन हम अनंत में चरण विन्यास कर पाएंगे। ○○

दि. 11.10.96



16. अविचल आस्थास : सिद्धि का मार्ग

शीतल जनपति लसित त्रिभंग्नी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रो।।

जन्म और मरण जीवन के दो शाश्वत सत्य हैं इन दोनों के मध्य की अवस्था को जीवन की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक प्राणी इन दोनों अवस्थाओं से गुजरता है क्योंकि जीवन की राह यही है इसलिये इसमे राजा–रंक, संत–पापी, कीट–पतंग, पशु–पक्षी किसी का भेद नहीं होता। तीर्थंकर भी इसी राह से गुजरे थे। यह बात अलग है कि रूप, आकृति, आवास, अवस्था, लिंग, प्रकृति आदि की भिन्नता हो। कुछ भिन्नताएं इस रूप में भी हो सकती हैं कि कोई किसी गांव में हो, कोई किसी शहर में हो, कोई पुरूष देह को या स्त्री देह को धारण किये हो। या कोई पशु योनि में चला गया हो, पर वहां भी मार्ग यही है– जन्म, जीवन, मृत्यु। इस मार्ग से गुजरते हुए व्यक्ति जानता है कि इस मार्ग पर कुछ दुःख भी आते हैं, जन्म का दुःख है, बुढ़ापे का दुःख है, रोग का दुःख है, मृत्यु का दुःख भी है। इन चारों दुःखों से संत्रस्त हैं। शास्त्रकार कहते हैं–

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो।।

– उत्तराध्ययन सूत्र 19/16

वह इन सारे दुःखों को जानता भी है, उनके कारणों पर विचार भी करता है और सोचता है कि ऐसा पुरूषार्थ या पहल करूं कि दुःख आवे ही नहीं। परन्तु इस सब के बावजूद भी वह दुःख में प्रवेश कर जाता है।

एक व्यक्ति आग के पास बैठा आग ताप रहा है। थोड़ी सी असावधानी हुई, हाथ या किसी अंग का आग से स्पर्श हुआ, उसमें

दाह हुआ और उसने निष्कर्ष निकाल लिया कि आग जलाती है अतः आग के निकट नहीं बैठना चाहिये। पर कभी कभी चेतना इतनी बोझिल होती है कि व्यक्ति भूल जाता है कि उसने क्या अनुभव किया था और क्या निर्णय लिया था। एक विचार बना कि प्रयोग करके देखूँ कि आग जलाती है या नहीं। पुनः आग के निकट जाकर स्पर्श किया और फिर जला। तब व्यक्ति अपने अनुभव के कारण संभल जाता है कि मुझे आग के निकट नहीं जाना है क्योंकि मैंने एक बार नहीं अनेक बार देख लिया है कि आग जलाती है।

एक व्यक्ति के मुँह में छाले हो गये। भोजन करने बैठा– साग में मिर्च अधिक थी, पर साग स्वादिष्ट था। उसने एक ग्रास मुँह में लिया, छालों के कारण जलन होने लगी। एक मन ने कहा मुझे यह नही खाना है, जलन होती है। पर दूसरे ही क्षण भीतर से पुकार आई अरे एक क्षण की जलन होगी पर व्यंजन कितना स्वादिष्ट है ! हाथ बढ़ा और फिर निवाला लेकर चबाने लगा। मिर्च तीखी थी पर हाथ फिर बढ़ गया साग की और। एक शराबी शराब के नशें में बेभान इधर उधर गिरने लगा, नशा उतरा। सहज होने पर विचार आया अब आज के बाद मुझे शराब नहीं पीनी है पर ज्योंही ठेकेदार की दुकान सामने आई, उसे ध्यान ही नहीं रहा कि वह क्या कर रहा था। रोज के सधे कदम दुकान के अंदर बढ़ गये। वह कुछ सोच पाता कि प्याली सामने आ गई। एक मन ने कहा नहीं पीऊं पर दूसरे मन ने कहा– होगा देखा जायेगा और प्याली मुँह से लगा ली। सोचिये उसकी क्या दशा होगी ? कहीं हारमोनियम और ताल बज रहे थे। एक नृत्य करने वाला वहां बैठा था, धुन सुनी, बैठ नहीं पाया, उठ खड़ा हुआ और अनायास ही पैर थिरकने लगे। यही दशा है व्यक्ति की। जानता है शराब पीना ठीक नहीं है, उसकी हानियों पर विचार भी करता है पर ज्योंही समय होता, उन्माद सा छा जाता है और बेभान होकर वह ठेके पर पहुँच जाता है।

ऐसी ही प्राणियों की स्थिति है। तीर्थंकर देवों का हृदय पात्र तो करूणा से ओत–प्रोत है। उन्होंने सभी आत्माओं को आत्मवत् मान रखा है। पर मनुष्य है कि उनकी करूणा का लाभ ही नहीं उठा पाता है। प्रभु ने स्पष्ट कहा है–

'असंखयं जीविय मा पमायए'

हे आत्मन्! तूं प्रमाद क्यों कर रहा है। तेरा असंस्कारित जीवन मिट्टी के घड़े की भांति है, चिर स्थाई नही है, जिस दिन फूटेगा साधना कठिन हो जायेगा। जीवन की डोर टूट गई तो संधेगी नहीं। चाहे जितनी गांठें लगाने का उपक्रम करो, गाँठ लगेगी नहीं और जीवन जुड़ नहीं पायेगा इसलिये प्रमाद मत करो। उस शराबी पर तो हमें हँसी आयेगी कि कितना पागल है, मन का गुलाम है, शराब छोड़ नहीं पा रहा है, पर आपने तो शराब नहीं पी है फिर जिसे आप हेय मान रहे हैं, जिससे दुःख पैदा होता है उसी से फिर लगन क्यों लगाते हैं ? विचार कीजिये दुःख किसमें है ? संसार में दुःख है या सुख ? छोड़ने का मन होता है। एक क्षण विचार आता है परन्तु किसी प्रसंग पर विचारों में पुनः बदलाव आ जाता है जैसे ताल बजने पर नर्तक थिरकने लगता है वैसे ही व्यक्ति सांसारिकता के ताल पर जीवन का नृत्य करने लगता है। मैं कह गया हूँ कि राह वही है जिस पर तीर्थंकर भी चलते हैं, हम भी चल रहे हैं, यद्यपि सबके अनुभव भिन्न–भिन्न होते हैं। घटनाएं घटती हैं पर प्रतिक्रिया अलग–अलग होती है।

करकण्डू ने सांड देखा, विचार किया एक दिन यह शक्ति संपन्न था पर आज अपने ऊपर की मक्खियां भी उड़ा नहीं पा रहा है। उसे अनुभूति हुई कि मेरी भी यही दशा होगी। आज मुझमें शक्ति है, जवानी है पर जब बुढ़ापा आ जायेगा, क्योंकि यह शरीर मरणधर्मा है, तब मेरी भी ऐसी ही दयनीय दशा होगी। आज जो जवान हैं वे शायद यह नहीं सोचेंगे कि हम भी कभी बूढ़े होंगे। माता–पिता के

साथ कैसा व्यवहार करते हैं यह तब समझ में आता है जब स्वयं बूढ़े हो जाते हैं और उनका पुत्र भी वैसा ही बर्ताव उनके साथ करता है। तब महसूस होता है कि पिताश्री को मेरे कारण कितनी पीड़ा हुई होगी, तब मन रोएगा। जीते जी पारिवारिक सदस्यों को सुख नहीं दिया, अरमान पूरे नहीं किये अब पश्चाताप करने से क्या लाभ ? भारतीय संस्कृति का ऐसे व्यक्ति निश्चय ही उपहास करते हैं जिन्होंने माता–पिता की इच्छाओं की कभी पूर्ति नहीं की। उनकी बुढ़ापे में खाने की भावना रही होगी, वह तो पूरी नही की होगी पर उनके मरने के बाद श्राद्ध जरूर करते हैं, तर्पण करते हैं। क्यों करते हो यह पाखण्ड उनके मरने के बाद ? शायद पश्चाताप के कारण एक भावना उठती होगी कि मैंने तब उनकी मनोकामना पूर्ण नहीं की, अब पूरी कर दूं। पर क्या वह तर्पण उनके पास पहुँच जायेगा ? एक ब्राह्मण ने एक पुरूष से कहा– यदि तुमने श्राद्ध नहीं किया तो पिता को सद्गति नहीं मिलेगी। उसने कहा– ठीक है, मैं विचार करूंगा। एक दिन वह पहुंचा गंगा के किनारे और नालियां बनाने लगा। फिर उनमें गंगा का जल लोटे में भरकर उलीचने लगा। संयोग से ब्राह्मण देवता भी आ गये। उसे यह सब करते देख पूछा– क्या कर रहे हो ? उत्तर मिला– मैं अपने खेत तक पानी पहुँचा रहा हूँ। प्रश्न हुआ– कहां है तुम्हारा खेत ? उत्तर मिला– यहां से 5 कि. मी. की दूरी पर। प्रश्न हुआ– पर तुम यहाँ पानी फेंक रहे हो, यह तो पुनः गंगा में ही चला जायेगा, खेत तक कैसे पहुँचेगा ? उस व्यक्ति ने उत्तर दिया– ब्राह्मण देव! मैं पानी लेकर संकल्प करके अपने खेत की दिशा में फेंक रहा हूँ तो क्या वह खेतों में नहीं पहुँचेगा ? ब्राह्मण ने कहा– नहीं। इस पर उस व्यक्ति ने पूछा– तो फिर अब यहां मैं माता–पिता के नाम से कुछ श्राद्ध कार्य करूं तो वह उन तक कैसे पहुँचेगा ? 5 कि. मी. की दूरी तक यदि पानी नहीं पहुँच सकता तो वह अब, केवल परलोक तक कैसे पहुँचेगा ? यही तो है [illegible]। हमें ज्ञान नहीं है और हम एक ढर्रे पर चले जा रहे हैं [illegible]

अनुभव नहीं कर पाते हैं, इसलिये दुःख आते हैं, वेदन भी होता है। पर व्यक्ति समझने को कितना तैयार है ?

सामान्य रूप से दुःख का वेदन दो रूपों में होता है– 1. जागृत अवस्था में 2. सुप्त अवस्था में। जब तक सुप्त अवस्था रहती है वेदन पुनः–पुनः दुःख को बुलावा देता है। जागृत अवस्था में जो वेदन होता है उसमें पुनः पुनः वेदन नहीं होता है। स्कूल में विद्यार्थी पहुँचा, गुरू ने पाठ दिया, पर वह पाठ याद करके नहीं गया। एक–दो दिन निकल गये फिर भी याद नहीं किया। आखिर फैल हो गया। और पुनः वहीं अध्ययन करने लगा। वैसे ही सुषुप्ति दशा के कारण दुःख परम्परा बनी रहेगी, दुःख जुड़ता रहेगा।

गुरू नानक के जीवन का प्रसंग है। वे अपनी मस्ती में जीवन–यात्रा साधते चले जा रहे थे। एक दिन एक डाकू उनके चरणों में पहुँचा, गुरू नानक का उपदेश सुना। चरणों में माथा टेक कहने लगा– गुरूदेव ! मुझे बचाइये। गुरू नानक ने पूछा भाई, तुम बचाने को कह रहे हो, पर यह घबराहट क्यों है ? बचाव क्यों चाहते हो ? डाकू ने कहा– गुरूदेव ! मैंने जीवन में बहुत से गलत काम किए हैं। आपसे आज सुना– पाप कर्मों का बन्ध होता है और पुनः उनका वेदन होता है उस स्थिति का डर लग रहा है। उससे मुझे बचा लीजिए। नानक ने कहा– ठीक है। यदि बचना चाहते हो तो गलत काम छोड़ दो। उसने कहा– मैं प्रण करता हूँ कि गलत काम कभी नहीं करूँगा। इसके उपरांत एक–दिन तो वह प्रण पर डटा रहा। पर रोज का अभ्यास फिर प्रेरित करने लगा। बैठे–बैठे क्या करूँगा ? पुनः डाका डालने चला, दिन बीतते रहे। पुनः एक दिन गुरू नानक के समीप पहुँचा, निवेदन किया– मुझे बचा लीजिए। मैंने प्रतिज्ञा तो ली थी पर मैं पुनः गलत कामों में पड़ गया। बचाइये, कोई उपाय बताइये। आप सब जानते हैं कि आदत छूटती नहीं। एकाध दिन तो ध्यान रहता है फिर पैरों में थिरकन होने लगती है। मानो पैरों

कर लिया कि अब डाका नहीं डालूंगा, जीवन को संस्कारित करूंगा।

इस प्रकार आपका यह प्रयास रहे कि जो भी विचार बनते हैं गुरू के सामने प्रकट कर दें। परन्तु यदि गुरू का सानिध्य न मिले तो भी प्रतिदिन के विचार डायरी में नोट कर लें और इसमें पूरी ईमानदारी रखें। कोई बात छिपायें नहीं, जो भी विचार आयें उन्हें नग्न सत्य के रूप में अंकित कर लें। तदुपरान्त ठीक एक महीने बाद एक–एक पन्ने को पढ़ने की कोशिश करें। उसके बाद आपके विचारों में जो रूपान्तरण होगा, जो अद्भुत अनुभूति आपको होगी उस पर आप स्वयं आश्चर्य चकित रह जायेंगे– क्या एक माह पूर्व मेरे ऐसे विचार बने थे। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम बातें बहुत जल्दी भूल जाते हैं। हमें याद नहीं रहता है। महीने पूर्व के तो छोड़ दीजिये, व्याख्यान में आने से पूर्व आपके क्या विचार बने थे यह भी याद नहीं रख पाते। यदि ये विचार लिपिबद्ध कर लिये जायें तो फिर डायरी में लिखा हुआ जब आप उठा कर पढ़ेंगे, आपका तुरन्त मार्गदर्शन हो जायेगा। तब आपकी आत्मा ही आपके लिए गुरू का काम करेगी। वह आत्मा ही देव है, धर्म है, पर कब ? जब आत्मा जग जाये। प्रभु महावीर और प्रभु शीतलनाथ की भाँति हमारी आत्मा भी जग जाये तो वही आत्मा हमारे लिए देव, गुरू, धर्म का रूप बन जाय। इसीलिए प्रभु ने कहा है– प्रमाद मत करो। प्रमाद को छोड़ोगे तो असंस्कारों को भी दूर करते चले जाओगे। जागरण के प्रति एकनिष्ठ समर्पण बन गया तो अपने भीतर, शक्ति का अजस्र प्रवाह प्रवाहित जागरण होगा, फिर सामने कोई टिक नहीं पायेगा। अविचल विश्वास पैदा हो गया तो चमत्कार तो अपने आप घटित हो जायेगा।

अनेक ऐसी घटनाएं घटती रहती हैं जिन्हें चमत्कार कहा जा सकता है। ऐसी ही पूर्व की एक सत्य घटना है। आचार्य भगवन् का चातुर्मास नोखा में चल रहा था। एक परिवार में, जो धर्म स्थान के निकट ही रह रहा था एक मांजी भी थी, जो लगभग 80/85 वर्ष की

थी। वे खाट से उठ नहीं पाती थीं। उठाने के लिए उन्हें सहारा देना पड़ता था, आंखों से उन्हें कम दिखाई देता था। संवत्सरी के पश्चात् आचार्य देव कुछ घरों में दर्शन देने पधारे। एक भाई ने आकर निवेदन किया कि आप मेरी दादीजी को भी दर्शन देने की कृपा करें। गुरुदेव पधारे, दर्शन दिये।

गुरूदेव ने माँजी को जब तक आप स्वयं उठकर काम करने की स्थिति में नहीं आ जाए तब तक अठारह ही पाप एवं पुत्रवधु जो दे दें उसके अलावा अन्य पदार्थों के खाने का त्याग करवा दिये। गुरूदेव मंगल पाठ सुनाकर स्थानक पधार गए। थोड़ी देर में ही उधर उन माँजी ने कहा कि वह लोटा बीच में क्यों रख दिया है। घर वाले सोचने लगे इन्हें तो दिखाई नहीं देता है। शायद स्मृति–भ्रंश से कह रही होंगी। थोड़ी देर बाद माँजी और भी चीजों की ओर इशारा करने लगीं। पूछा, क्या आपको दिखाई देता है और उन्हें अंगुलियां दिखाई, उन्होंने बता दीं। कोई कहे–कैसे ऐसा हो सकता है ? पर हम प्रत्यक्षदर्शी हैं। दूसरे दिन मैं स्वयं धोवन लेने उनके घर गया तो वह उठने लगीं। मैंने कहा– इन्हें क्यों तकलीफ देते हो, तो उनकी पुत्रवधु ने बताया कि ये तो उठ कर घूमने फिरने लग गई हैं। और माँजी ने पुत्रवधु के साथ हाथ लगाकर, पानी बहराया। मुझे भी आश्चर्य हुआ। मैंने भी अंगुलिया बताई, दिखाई वे कहने लगीं–'आप भी कंई टाबरा दांई करो।' उन्होंने अंगुलियां गिनकर बता दीं। इस घटना की जानकारी होते ही बीकानेर, गंगाशहर, भीनासर, देशनोक आदि क्षेत्रों से अनेक व्यक्ति माँजी के दर्शन को आने लगे। बीकानेर से डॉ. सक्सेना, डॉ. सुराना, डॉ. पूनियां भी उपस्थित हुए और सत्य स्वीकार किया। यह कोई अनहोनी या आश्चर्यजनक घटना नहीं थी। जब निष्ठा गहरा जाती है तब सब कुछ संभव हो जाता है।

जलगांव प्रवेश के समय की एक घटना है ईश्वरचंदजी ने निवेदन किया– गुरूदेव ! आप फेक्ट्री में विराजें। रात्रि को उनके

पिताजी कहने लगे– "गुरूदेव मैं प्रवेश में उपस्थित नहीं रह सकूंगा। पूना से समाचार आये हैं– अचला देवी (उनकी पुत्री) को हार्टअटैक के कारण हास्पिटल में भर्ती कराया गया है।" सहज ही गुरूदेव के मुख से निकल गया कि अचला बाई जी को अटैक तो नहीं होना चाहिए। उन्होंने गुरूदेव के उद्‌गार श्रद्धा से स्वीकार किये और चमत्कार हो गया। कुछ समय पश्चात् उन्हें पुनः समाचार मिले कि हार्टअटैक तो नहीं हैं। कुछ गैस ट्रबल है और उनके जाने का प्रसंग नहीं बना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमें ज्ञात नहीं हो पाता, पर जहाँ स्वच्छ या शुद्ध हृदय से साधु के मुँह से बात निकलती है तो वह खाली नहीं जाती।

हमारी सत्य निष्ठा, एक निष्ठा के साथ जुड़ जाये और अविचल आस्था पैदा हो जाये तो दुःख, द्वंद्व पैदा ही नहीं होंगे। वे तब ही आते हैं जब हम विचलित होते हैं। हम अविचल हैं तो हमें कोई भी शक्ति परास्त नहीं कर सकती, क्योंकि तब हमारे भीतर शाश्वत् ज्योति प्रकट हो जाती है। यह होता तभी है जब हम जीवन को संस्कारित व अप्रमत्त बना लें। फिर जो अनुभूति होगी वह सत्य होगी। दृढ़ श्रद्धान पैदा होगा तो प्रमाद, असंस्कार आदि स्वतः ही दूर हो जायेंगे। यह जीवन के आमूल–चूल परिवर्तन की स्थिति होगी। जिसके बनने पर हमारी आत्मा भी उस स्थान तक पहुँचने की पात्रता प्राप्त कर लेगी, जिस स्थान तक प्रभु पहुँचे हैं। ○○

दि. 12.10.96



17. अभयदान महादान

शीतल जनपति लसित त्रिभंग्नी विविध भंगी मन मोहेरे।
करूणा कोमलता तीक्षणता उदासीनता सोहे रे।।

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर करूणा के अथाह सागर हैं। उनकी करूणा का स्रोत निरंतर प्रवाहित होता रहता है। जो भी उनके समीप पहुँचता है उसके लिए उनकी करूणा सहज रूप में प्रवाहित होने लगती है। जिसने भी अपना पात्र उनके स्रोत के सम्मुख प्रस्तुत किया वह उनके हृदय की करूणा से आप्लवित हो गया। हमारा यह सौभाग्य ही है कि इतनी लम्बी अवधि के पश्चात् भी उनका वह दिव्य उपदेश आज भी हमें प्राप्त है। उन्होंने भव्य आत्माओं के लिए करूणा पूरित हृदय से जो उपदेश दिया वह उनकी सहज अनुभूति से निसृत था। वह केवल विद्या विलास या शब्द विलास नहीं है। क्योंकि उसके शब्दों के पीछे गहरा अनुभव एवं गहन अनुभूति समायी हुई है। प्रभु कह रहे हैं –

'असंखय जीविय मा पमायए।
जरोवणीयस्स हु णत्थि ताणं।।'

अर्थात् हे आत्मन् ! तेरा जीवन असंस्कारित है। जरा विचार करें कि क्या हमें बुरा नहीं लगेगा यदि हम जैसे सभ्य लोगों को प्रभु या कोई भी व्यक्ति असंस्कारित या संस्कार विहीन कह दे ? बात कठोर है इसलिये मन में पीड़ा होगी। ऐसा ही तब हुआ होगा जब अनाथी मुनि ने मगध सम्राट श्रेणिक से यह कह दिया था कि तूं स्वयं अनाथ है। सम्राट के मन में उतार–चढ़ाव अवश्य आए होंगे– मुनि ने मुझे नहीं पहचाना, मैं सम्राट हूँ। अनेक अनुचर मुझे प्रतिदिन नाथ, स्वामी कहकर पुकारते हैं। मैं राज्य का स्वामी हूँ। मेरी आज्ञा के बिना कोई पत्ता नहीं हिल सकता और मुनि मुझे कहें तूं स्वयं अनाथ है ? विचार किया, कहीं मुनि असत्य भाषण, मिथ्या कथन तो नहीं कर रहे

हैं? क्या करण है ? श्रेणिक चुप नहीं बैठे, कहने लगे– मुनिराज ! मैंने सुना है, मुनि असत्य भाषण नहीं करते। आपने यदि मुझे नहीं पहचाना तो बात अलग है। अन्यथा आप असत्य भाषण के दोषी बन जायेंगे। मुनि के सामने इस प्रकार स्पष्ट कथन के पीछे उनका स्वयं का व्यक्तित्व था अन्यथा यह सोच कर कि कहीं मुनि नाराज न हो जाय और शाप न दे दें वे चुप रह जाते तो क्या स्थिति होती। सामान्यतः व्यक्ति अपने आप को भय से उपरत नहीं कर पाता। यदि संत महात्मा के पास पहुँचने पर भी भय दूर नहीं हो तो फिर वह कैसे दूर होगा। प्रभु महावीर के पास या किसी तीर्थंकर के समवशरण में कोई पहुँचता तो वह व्यक्ति भय–मुक्त हो जाता था। वहां भय किस बात का रहता ?

प्रभु ने स्वयं कहा है– **'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'** दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। आज हमने इस परिभाषा को सीमित कर दिया है। मन के अनुकूल अर्थ–संयोजना में हम तत्पर रहते हैं। हम परिभाषा करते हैं कि कोई प्राणी मर रहा है, उसे बचा लिया तो वह अभयदान है। पर विचार कीजिये, जो स्वयं भय से आक्रान्त है, भयभीत है, जिसके हृदय में अभय की बूंदे नहीं, अभय का रस नहीं, वह क्या अभय दे सकेगा। जो स्वयं को अभय नहीं कर पा रहा है वह दूसरे को अभय कैसे कर पायेगा । जिसके स्वयं के पास सम्पत्ति है वही दान कर सकता है पर जिसके पास सम्पत्ति है ही नहीं, वह क्या दान देगा ?

हमारे पास भाव हैं तो शब्द लाभदायी हो सकते हैं यदि भाव नहीं तो वचन लाभदायी नहीं हो सकते। **'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'** दानों में अभयदान श्रेष्ठ है पर इस अभय दान को आज हमने पर–सापेक्ष मान लिया है। सोचते हैं कि कोई प्राणी आ जाये तो अभयदान देकर धर्म का लाभ प्राप्त करूं। पर यदि कोई नहीं आया तो क्या लाभ नहीं प्राप्त किया जा सकता ? यही बात धर्म प्रचार एवं

व्यसन मुक्ति अभियान के संदर्भ में भी सत्य है। भले ही हजारों लोगों से त्याग प्रत्याख्यान करवाये गये हों पर फिर भी ऐसे अभियान दूसरों के सहयोग और त्याग पर निर्भर होते हैं। विगत दिनों में व्यसन मुक्ति अभियान में उन्नीस हजार लोगों द्वारा त्याग–प्रत्याख्यान करवाने की बात कही गई है। यह भी बड़ा काम था। मैं मानता हूँ पर जो बात मैं कहना चाह रहा हूँ वह यह है कि यदि दूसरा कोई सामने नहीं है तो व्यसन मुक्ति व संस्कार निर्माण कैसे होगा ? प्रत्येक कार्य में दूसरे की अपेक्षा बनी रही तो हम अपने आप को, स्वयं को, समझ पाने की स्थिति में नहीं रहेंगे। पहले स्वयं को अभय देने की आवश्यकता है, हमारी आत्मा स्वयं भीतर भयभीत हो तो हम दूसरों को अभय कैसे देंगे ? स्वयं के पास नहीं तो वितरण कैसे करेंगे ? कवि आनंदघनजी ने अभयदान की परिभाषा करते हुए कहा है – अभयदान ते मल क्षय करूणा। **'तीक्ष्णता गुण भावे वे।'**

यह सुन्दर परिभाषा है। यह न समझा जाय कि यदि कोई कसाई पशुओं को ले जा रहा है, और हमनें रूपये देकर उन पशुओं को बचाया तो अभय दिया। नहीं, यही अभयदान नहीं है। यदि यही परिभाषा बनी रही तो जिनके पास सम्पत्ति नहीं है क्या वह अभयदान नहीं दे पायेगा ? फिर तो धर्म पैसे वालो का हो जायेगा। पर वस्तुतः 'धर्म पैसे वालों का नहीं, भावना वालों का होता है।' पैसे हैं पर दया, करूणा, त्याग, अभय आदि के भाव नहीं, तो लाभ नहीं होगा।

एक महात्मा बैठे हुए थे। एक सेठ जिसमें बड़ी उमंग थी महात्मा जी के चरणों में हजार–हजार स्वर्ण मुद्राओं की थैली लेकर पहुंचा। उसके भाव थे कि जब वह थैली समर्पित करेगा तब दुनियाँ देखेगी, कि ये कितने बडे सेठ हैं। हम जानते हैं कि नाम के लिए तो व्यक्ति लाखो, करोड़ों की सम्पत्ति एक क्षण में देने के लिए तत्पर हो जाता है। सेठ ने हजार–हजार अशर्फियां की 5 थैलियां महात्मा जी के चरणों में अर्पित कर दी। फिर चारों ओर देखता हुआ वह सोचने

लगा– कि लोगों के हृदय उसके प्रति प्रशंसा भाव से भरे होंगे। महात्माजी भी उसकी सारी गतिविधि देख रहे थे। उन्होंने उन थैलियों को ठोकर लगा कर किनारे खिसका दिया। सेठ तिलमिलाया, भरी सभा में मेरा अपमान कर दिया ? मैंने इतना धन दिया, लेना तो दूर उसे ठोकर मारकर मेरा अपमान कर दिया। फिर उसने सोचा कि यदि मैंने तिरस्कार की बात कही तो मेरा अपमान होगा, अतः यहां समझ से काम लेना होगा। अपमान-का घूंट पीता हुआ वह कहने लगा– महात्मन् ! इतनी बड़ी सम्पत्ति को आपने ठोकर लगा दी, कौन मिलेगा इतना धन देने वाला? फिर उसने तीन बार महात्मा के चरण स्पर्श किये, महात्मा मौन रहे। तब सेठ ने पूछा– महात्मा जी आप बोले क्यों नहीं मेरी भेंट ठुकरायी क्यों, ग्रहण क्यों नहीं की ? महात्मा ने कहा– ये धन किस काम का, इससे तुम्हारे अहं का पोषण हुआ है। हजारों के बीच तुम एक प्रकार का विज्ञापन कर रहे हो कि तुम दान दे रहे हो। दान के साथ यदि स्वयं को समर्पित नहीं किया तो वह दान नहीं होता, सिर्फ दिखावा होता है।

आप कहते हैं 'अतिथि संविभाग व्रत' आपने इसका अर्थ जाना है या नहीं ? अतिथि के बीच कैसे संविभाग करना चाहिये ? कोई अतिथि आया, दो फुलके परोस दिये, कुछ साग भी दिया, संत आये तो इन्हें भी बहरा (दान) दिया, हो गया वितरण ? संविभाग ऐसे नहीं होता है। जैसे आपकी धर्म–पत्नी अर्द्धांगिनी होती है, आपके आधे अंग की मालिक होती है वैसे ही अतिथि संविभाग में हृदय में विभाग हो। हृदय में भाव नहीं, श्रद्धा–समर्पणा नहीं तो वहां आराधना नहीं होगी। ऐसी स्थिति में एक बात और भी हो जावेगी कि–

भेष धारी आवे घर द्वार ए, जेने शरमा शरमी देवे आहार ए।
पछे कीजे पश्चाताप ए, तो ओछो लागे पाप ए।।

आ गया है तो देना पड़ेगा, वहां व्रत आराधना नहीं है। यदि आराधना करनी है तो हृदय भी अर्पित कर दो। यदि मस्तक को खड़ा

रखा, वह दान की परिभाषा में नहीं पहुंचायेगा। मैं बतला रहा था अभयदान की बात। आपने 50 बकरियां, 10 गायें छुड़ा ली तो क्या हो गया 'अभयदान ? ये काम भी ठीक है, पर ये भी विचार करो– अभय के भाव दिल में पैदा हुए या नहीं। कवि कह रहे हैं– 'अभयदान ते मल क्षय करूणा' भीतर जो मल, कीचड़ भरा हुआ है, वह दूर नहीं हुआ। भय भरा है, चित्त वृत्तियों में भय समाया है तो आत्मा अभय नहीं हो सकेगी। जब आत्मा का भय दूर नहीं हुआ है तो दूसरों को अभय कैसे दे पाओगे ? आज हम एक ओर तो अभयदान की बात करते हैं और दूसरी ओर हमने दूसरों के ऊपर नंगी तलवार तान रखी है तो अभयदान कैसे होगा ? एक बकरी को खूब खिलाया, पिलाया जाय पर संध्या को उसके सामने सिंह की खाल ओढ़कर उसे भयभीत किया जाता रहे, खाना तो बहुत अच्छा खिलाया पर उसे भयभीत किये रखा तो उसका लाभ कैसे मिलेगा ?

स्थानांग सूत्र में कथा आती है– एक चोर चोरी करते पकड़ा गया। उसे राजा के सामने हाजिर किय गया। राजा ने उसे दंडित करते हुए फाँसी की सजा सुना दी। इस राजा की चार रानियां थी। उन्हें एक बार राजा ने वरदान दे दिया था, जिसे उन्होंने समय पर मांगने की बात कह कर सुरक्षित कर लिया था। राजा से उन रानियों ने निवेदन किया, हमारा वरदान दीजिये। राजा ने कहा– आज ही चाहती हो, तो मांग लो। क्या इच्छा है ?

पहली रानी ने कहा– वह चोर जिसे फाँसी की सजा दी गई है, एक दिन के लिए हमें सुपुर्द करें। राजा ने स्वीकृति दे दी। रानी ने चोर को खूब अच्छा खिलाया पिलाया, अच्छे वस्त्र पहनाए और 1000/– एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ देकर रवाना कर दिया।

दूसरी रानी ने भी अपना वरदान मांगा। राजा ने सोचा ये आज ही वरदान क्यों मांग रही हैं, खैर ! मुझे तो देना ही है। उसने भी मांग रख दी और एक दिन के लिए चोर उसे सौंप दिया गया। रानी ने भी

उसे स्वादिष्ट व्यंजन खिलाए, सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया और 10,000/– स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार स्वरूप दे दी। तीसरी रानी ने भी वही चाह रखी, उसे भी स्वीकृति मिल गई। उसने भी चोर को भोजन कराया, उसकी सेवा सुश्रुषा की, वस्त्राभूषण पहनाए और एक लाख मुद्राएं भेंट की। चौथी रानी तत्व का स्वरूप जानने वाली थी। उसमें प्रतिस्पर्धा के भाव भी नहीं थे। राग–द्वेष या सौतिया डाह से भी वह मुक्त थी। उसका जीवन संयमित एवं नियमित था। उसने प्रार्थना की– मुझे भी वरदान दीजिये। राजा ने पूछा– क्या चाहती हो ? उत्तर मिला– मैं चाहती हूँ कि चोर की फाँसी की सजा माफ कर दी जाय। राजा ने कहा– ये क्या कर रही हो ? इससे तो अपराध बढ़ेंगे, राज्य–व्यवस्था सुचारू नहीं रह पायेगी। रानी ने कहा– आपने मुझे वरदान दिया है, वचन दिया है तो वह खाली नहीं जाना चाहिए, इन्कार न करिये। राजा ने कहा– मैं तो दे देता हूँ लेकिन वह आगे भी चोरी करता रहेगा तो इसकी जवाबदारी कौन लेगा ? रानी ने कहा– मैं सुधारने की कोशिश करूंगी। वैसे भी हमारी दण्ड व्यवस्था सुधार की होनी चाहिये, प्रताड़ना की नहीं। रानी ने उस चोर को बुलाया और उसे समझाने का प्रयत्न किया, उसके कर्मों के क्षयोपशम का समय भी आ गया था। एक–एक बात उसके गले उतरती चली गई। उसने दया की भीख माँगते हुए कहा– मुझे एक बार बचा लो, मैं अपना जीवन रूपान्तरित कर डालूँगा। छोटी रानी ने न उसे भोजन कराया, न वस्त्र आभूषण दिये, न ही कोई पारितोषिक प्रदान किया। उसे खाली हाथ रवाना कर दिया। चारों रानियाँ मिली और आपस में अपने–अपने उपकारों पर गर्व करने लगी। बात बढ़ी तो वे राजा के पास पहुँची। राजा ने कहा– उस चोर को ही बुला लो, निर्णय हो जायगा। चोर को बुलाया गया। उसने कहा– मेरे ऊपर यों तो सभी रानियों का उपकार है। पर जितना उपकार छोटी रानी का है उतना किसी का नहीं। तीनों के सहयोग के बाद भी मुझ पर मौत का आतंक था। उनका सत्कार चाँदनी की चमक जैसा था। भय से मैं भयभीत

वना हुआ था। निरन्तर अभय व बचाव की इच्छा बनी हुई थी। चौथी रानी ने उस भय को दूर कर दिया।

तीर्थंकरों की आराधना के साथ यदि जीवन में दया–करूणा प्रवाहित हो तो वहीं से अभयदान की स्थिति बनती है अन्यथा करूणा के अभाव मे सिर्फ पैसों से अभयदान एक औपचारिकता होगी। श्रेष्ठ अभयदान है जीवन को समर्पित करना। यह आंदोलन, क्रांति नहीं है वल्कि एक सहज प्रवृत्ति है। धर्म–जागरण, समाज–जागरण और व्यसनमुक्ति के आंदोलन संस्कारित कर मनोवल बढ़ाने वाले प्रयास हैं। ऐसे प्रयास आत्मा को भयमुक्त करने में सहयोग करते हैं। इन्हें चलाने वाले जनकल्याणकारी कामना से प्ररित होते हैं।

'सर्व जन्तु हित करणी करूणा' का ही एक रूप है। इस प्रकार जब हम सभी को अपनी आत्मा के समान देखते हैं, तब कोई पराया रहता ही नहीं। जब सभी को अपना ही मानकर चलेंगे तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना फलित होगी। तव यह विचार फलित होगा कि जैसी हमारी चेतना है, वैसी ही चेतना प्रत्येक प्राणी में है। उसमें अन्तर नहीं है फिर –

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

अर्थात् जो हम चाहते हैं वही प्रत्येक प्राणी चाहता है, यह भाव आ जावेगा। इस प्रकार जव हम किसी को पराया नहीं समझेंगे, तव सिर्फ 'स्व' ही होगा। उस स्थिति में दु:ख भी 'स्व' का दु:ख होगा और पर पीड़ा में 'स्व' पीड़ा की अनुभूति होगी।

व्यक्ति सोचता है– दु:खी का दु:ख दूर करूं। पर यदि वह स्वयं दु:खी है, भयभीत है तो दूसरों को अभय नही दे सकेगा। दूसरों के बजाय स्व के दु:ख को दूर करने का प्रयत्न करेगा तो फिर उसने जो स्रोत प्रवाहित होगा, उससे प्रत्येक प्राणी आप्लावित होगा। प्रभु को जब तक केवलज्ञान नही हुआ प्रभु ने उपदेश नही दिया। वस्तुत: प्रभु

उपदेश के बजाय जो कुछ करना चाहते थे वह दुःख दूर करने की तैयारी था। स्वयं के दुःख को दूर नहीं किया तो पर–दुःख दूर कैसे कर पायेंगे यह उनका चिन्तन था ? दुःख को भी दुःख माने तब ही उसे दूर करने का प्रयास किया जा सकता है। परन्तु उनका दुःख वास्तव में सब के दुःख की उनकी अनुभूति थी। इस बात को एक अन्य दृष्टिकोण से देंखे। अधंकार कहता है– प्रकाश मेरे पास आता ही नहीं। वह मेरी बराबरी नहीं कर सकता। जहां मैं रहता हूँ वहां वह आता नहीं। प्रकाश तो मिलने को तैयार है पर अंधकार स्वयं को दूर करने की कोशिश ही नहीं करे तो प्रकाश कैसे मिलेगा ? प्रभु ने सर्वहित के लिये उपदेश दिया है। आवश्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं का पात्र तैयार करे। राग–द्वेष रूप मल–क्षय हो। प्रभु से जो स्रोत प्रवाहित होता है, इच्छुक व्यक्ति अपने पात्र में उसे भर सकता है। जिसे दुःख दूर करना है वह पहले अपना पात्र तैयार करे। जिससे वह उपदेश उसके लिये उपयोगी बन सके।

हम कहते है– *'णमो अरिहंताणं'* हम नमस्कार क्यों करते हैं ? नमस्कार करके हम उन्हें क्या देते हैं ? यदि हम देने लगे और वे लेने लगे तो वहां गड़बड़ी ही पैदा होगी। उनकी अर्हता को ठेस पहुँचेगी। तो फिर क्या हमें *'णमो अरिहंताणं'* नहीं बोलना चाहिए ? यहां तात्पर्य है कि वह नमन अरिहन्तों के लिए नहीं बल्कि अरिहंतों की तरफ है, उनकी ओर इशारा है, हम अपना पात्र उनकी तरफ नमाते हैं ताकि वह प्रवाह जो बह रहा है वह हमारे पात्र में भी समाविष्ट हो जावे। जैसे कुंए से पानी भरने के लिए बाल्टी को रस्सी के सहारे उतार कर झुकाया जाता है, वह पानी को नमन नहीं बल्कि पानी की तरफ नमन अर्थात् पात्र का झुकाना होता है। वैसे ही प्रभु की तरफ हम अपना पात्र झुकाते हैं तो पात्र में अरिहंत के गुण प्रविष्ट होते हैं। वे गुण हमारे भीतर भी होते हैं पर वे सुप्त दशा में होते हैं। उन्हें जागृत करना होता है। कोई बुझा दीप यदि दुनियां को प्रकाशित

करना चाहे तो उसे पहले स्वयं की बाती में लौ प्रज्वलित कर प्रकाश अर्जित करना होगा। जब वह स्वयं प्रकाशित होगा तब औरों को प्रकाश दे पायेगा। बादल स्वयं पानी से भरकर झुकते हैं। फिर ठंडी हवा का झोंका मिलते ही वे बरसने लगते हैं। बादलों में पानी नहीं हो तो वे नहीं बरस पायेंगे। दीपक की बत्ती स्वयं प्रकाशित नहीं हो तो वह आलोक नहीं फैला पायेगी। इसी प्रकार जब हमारे भीतर करूणा का स्रोत प्रवाहित होता है जब उसके माध्यम से हम अभयदान देकर प्राणी की सुरक्षा कर पाते हैं। व्यक्ति सोचता है मैंने पैसे देकर प्राणी को बचाकर धर्म किया। केवल पैसों के दान से धर्म नहीं हो जाता। दान के साथ अहं का समर्पण भी होना चाहिए। यदि आपने अपना अहं बचाकर रख लिया तब दान का स्वरूप नहीं बनेगा। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है–

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं।'

अहं और लगाव नहीं होना चाहिए। दान की श्रेणी में जाना है तो अहं और लगाव को त्यागना होगा। तीर्थंकर के समवशरण में शेर–बकरी एक साथ बैठते हैं, क्योंकि प्रभु के भीतर की करूणा का चारों ओर प्रसार होने से उस वातावरण में भी सभी आवेग शांत शीतल हो जाते हैं। वैर–भाव मिट जाता है, अभयभाव उत्पन्न हो जाता है। एक प्यासा जब तालाब के तट पर पहुँचता है तब वह पानी ही नहीं पीता है, वहां की ठंडी हवा में कुछ क्षण थोड़ी तृप्ति की अनुभूति भी करता है। लेकिन कोई प्यास बुझाने के लिए पानी के निकट ही नहीं जाये तो प्यास कैसे बुझायेगा ? कोई गिलास भरकर दे भी दे, पर मुहँ में स्वयं नहीं उंडेलेगा तो तृषा शांत नहीं होगी। तीर्थंकर के सान्निध्य मे तो स्वतः ही शांत वातावरण निर्मित हो जाता है। करूणा भाव से पशुओं में भी राग–द्वेष के भाव तिरोहित हो जाते हैं, वे दुश्मनी भूल जाते हैं। कभी–कभी प्रश्न किये जाते हैं कि तीर्थंकर की करूणा से निकटवर्ती परिसर, में राग–द्वेष नहीं रहते, ईति–भीति व्याप्त नहीं होती पर गोशालक ने प्रभु के समक्ष ही सुनक्षत्र

व सर्वानुभूति पर तेजोलेश्या प्रक्षिप्त की थी। भगवान का अतिशय वहां काम क्यों नहीं आया ? हम सोच लेते हैं कि धर्म क्षेत्र में ये क्यों हो सका। परन्तु यदि सही तरीके से सोचें तो स्पष्ट हो जायेगा। धर्म क्षेत्र से कर्म दूर नहीं हो सकता। कर्म के उदय भाव से व्यक्ति धर्म से दूर हो जाता है। कर्म का उदय भाव था, इसलिये जमाली दूर हो गया। जब जमाली प्रभु के चरणों में आया था तब प्रभु ने जाना– अभी अवसर नहीं है। जमाली नहीं माना। उसने कहा मैं धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ। भगवन चुप रह गये। 'अहा सुहं' नहीं कहा। प्रभु का मन नहीं माना तो नहीं कहा। जमाली चला गया। निविड़ कर्म का उदय था। तो घर का रिश्ता था वह भी अलग हो गया। वे दो संत प्रभु के समवशरण मे ढ़ेर हो गये। क्या भगवान में करूणा नहीं थी ? क्यों नहीं बचाया ? उनकी करूणा का प्रवाह समाप्त नहीं हुआ था, पर वह उस स्थिति में प्रवाहित कैसे होता ? जबकि आयु के दालिक ही पूरे हो रहे हों। आयु के दलिक तो भगवान भी नहीं वढ़ा सकते। भगवान के साथ भी यही हुआ था। जब भगवान के अंतिम क्षणों को निकट जानकर शक्रेन्द्र ने निवेदन किया– भंते ! आपकी जन्म राशि पर भस्म ग्रह का प्रभाव है अतः आप आयु कुछ समय के लिए वढ़ा लीजिये अन्यथा शासन में उतार–चढ़ाव की स्थिति बनेगी। भगवान ने कहा– तीर्थंकर मे अनंत शक्ति है पर कोई भी आयु के दलिकों को बढाने में सक्षम नहीं है। एक पल भी नहीं बढाया जा सकता। द्वय मुनियों की भी आयु पूर्ण हो गई थी। कर्म का योग वैसा ही था निकाचित का भोग उस रूप मे ही होना था। भगवान यह जानते थे, वे उन्हें विहार भी करा सकते थे। विहार कराने में तो पाप नहीं था पर कर्म का योग ही ऐसा था।

अभयदान का स्रोत तो सहज ही प्रस्फुटित होता है। जिसके हृदय में यह स्रोत प्रवाहित नहीं है वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता। [illegible] से वह भले ही स्वयं को धर्मात्मा दिखाये, पर वस्तुतः

धर्म में उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

एक व्यक्ति चमड़े की मशक में हवा भरकर ऊपर से गांठ लगाकर नदी में प्रवेश करता है। नदी में बहुत समय तक रहकर जब वह बाहर निकलता है तब वह मशक खाली ही रहेगी। भरना है तो उसे खोलना होगा, बंद करके एक दिन तो क्या एक माह में भी इसमें पानी नहीं भर पायेगा। हम धर्मक्षेत्र में हृदय को भावों से नहीं भरें तो अनुकम्पा का स्रोत भी प्रवाहित नहीं होगा। ऊपरी निरीक्षण तो केवल छलावा धोखा होगा।

एक भाई एक घर में पहुंचा, जहां उसके अच्छे सम्बंध थे। संयोग से उस घर में उस समय कोई सदस्य मौजूद नहीं था लेकिन उस घर में बर्तन में ताजे सेब रखे थे। इसे सेब पसंद थे, मुंह में पानी भी भर आया। एक मन कहने लगा ग्रहण कर लूं, पर दूसरे क्षण ही मन ने कहा नहीं, नहीं लूंगा। वह बैठा रहा। इतने में जिससे मिलना था वह भी आ पहुंचा। देखा सेब फल पड़े है। कहा– क्या तुम्हें सेब पसंद नहीं हैं। उत्तर मिला पसंद तो है। पूछा गया– फिर तुमने क्यों नहीं लिये ? उत्तर मिला– आप कोई भी उपस्थित नहीं थे इसलिए उपयोग नहीं किया। विचार करें कि जब घर में कोई और नहीं था तब उसे सेब खाते देख भी कोई नहीं सकता था। उस स्थिति में उस पर सेब की चोरी का आरोप भी नहीं लग सकता था। जब कोई देखे तो ही ईमानदारी, नहीं तो बेईमानी। यह तो स्वयं की नजरों में ही गिरना हैं। बेईमान बनने वाला पहले स्वयं की नजरों में गिरता हैं फिर इतना अभ्यस्त हो जाता है तो दूसरों की नजरो से गिरने मे भी इसे लज्जा नही आती। हजारों बार स्वयं की नजरों में गिर चुका हैं। फिर कोई देख भी रहा है तो इसे क्या फिक्र। बेईमानी पहले भीतर पनपती हैं। 'स्व' की नजर को धोखा दिया तो आने वाला समय माफ नहीं करेगा। वह भले ही यह समझे कि उसने दूसरों को धोखा दे दिया है पर वह यह स्वयं को ही धोखा देता है। ऐसा व्यक्ति निश्चित

रूप से असंस्कारित है।

जो स्वयं के साथ बेईमानी कर सकता है। वह सभी प्राणियों को आत्मवत् कैसे मान पायेगा। प्रभु ने सम्बोधित किया है– तुम्हारा जीवन असंस्कारित है। सधने वाला नहीं है। यदि तुम्हें जीवन को सुरक्षित रखना है तो प्रमाद मत करो। नहीं तो थोड़ा सा पानी बरसा और ये घास इतनी फैल जावेगी कि आत्मा को ढक लेगी। असंस्कारों की छाया में चेतना तिरोहित हो जावेगी। अभयदान की स्थिति से या बारहवें व्रत को निपजाने से पूर्व हृदय को टटोलें, हमारा हृदय भर रहा है या नहीं ? हम केवल बुद्धि की संतुष्टि कर लें, तो वह पर्याप्त नहीं होगा। उससे कोई लाभ भी नहीं होगा। भले ही औपचारिकता पूर्ण हो जाये। जीवन से प्रमाद को दूर करें तो असंस्कारित अवस्था दूर हो सकती है। फिर जीवन संस्कारित हो सकेगा।

तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था में उपदेश नहीं देते पर मल क्षय होने पर जब आवरण हटता है तो एक घटना घटती है। हमारे भीतर भी यह घटना घटित हो सकती है। तब हम चकित होंगे, अनुभूति में जो कुछ उपलब्ध होगा उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकेगा। वह हृदय का जागरण होगा कोई बौद्धिक उड़ान नहीं।

हमें यह सब समझ कर जागना है। संत ही नहीं, स्वाध्यायी भी समाज का बड़ा काम करते हैं। हमारी तो पुण्यवानी है कि उनके माध्यम से हम [illegible] सभी का उपदेश सुन लेते हैं। यह उनके स्वयं के [illegible] भी उपकारी है। इसलिये आप से आग्रह है कि स्वाध्याय के [illegible] में आगे बढ़ें। आप जब स्वाध्यायी के रूप में जिस क्षेत्र में पहुंचेंगे, [illegible] के हृदय की एक–एक धड़कन सुन पाएंगे। उनके [illegible] आशीर्वाद भी मिलेगा। आप [illegible] के लिए भी नहीं [illegible] लिए भी किन्हीं भावना [illegible] कि [illegible] के साथ कहीं [illegible] स्वीकार करें। यह

आपकी परीक्षा होगी। अपमान में भी त्याग की धारा अविचल बनी रहे तब समझिये कि वह करूणा का स्रोत आपके भीतर प्रस्फुटित हो गया है। वह स्रोत सतत प्रवाहित रहे, जो कभी सूखे नहीं यह सुनिश्चित कर पाना ही सच्ची परीक्षा होगी। यही निष्ठा एवं दृष्टि व्यसन मुक्त अभियान के विषय में भी होनी चाहिए। यदि एक–एक व्यक्ति संकल्प करें कि– मैं पांच पांच व्यक्तियों को व्यसनमुक्त करूंगा तो बहुत बड़ी सफलता मिल सकती है। शराब के ठेके व बूचड़खाने हटाने में भी ऐसे प्रयास कारगर होंगे। परंतु हमारे ये आंदोलन औपचारिक नहीं, दिखावें के नहीं, निष्ठा से मन की शुद्ध भावना से प्रेरित होने चाहिए। यदि नींव मजबूत डाल दी गई तो फिर चाहे जितनी मंजिल उटाओ, मकान नहीं गिरेगा। इसलिए हमें जमीन से आंदोलन उठाना है। इस रूप में जिन शासन की छवि को निखारने में भी हमारा योग बनेगा। भगवान ने कहा है– शासन में उतार चढ़ाव आयेंगे। वह नीचे जायेगा तो ऊपर भी उठेगा। ऊपर उठाने का वह यश आप ही क्यों न उठा लें ? इस प्रकार यदि ऊपर उठने में आप सहयोगी बनेंगे तो आप स्वयं को भी गौरवान्वित करोगे। कर्त्तव्य और धर्म का ऐसा एक साथ निर्वाह कर्म बंध काटकर आपको मोक्ष मार्ग का पथिक बना देगा। इस जीवन की इससे बड़ी और कोई उपलब्धि नहीं हो सकती। ००

दि. 13.10.96



18. अविद्या से मुक्ति : जीवन की सिद्धि

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी आतम रामी नामी रे।
अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।।

जावन्तऽविज्जापुरिसा सव्वे ते दुक्ख संभवा।
लुप्पन्ति बहुसो मूढ़ा संसारम्मि अणन्तए।।

उत्तराध्ययन 6/1

इस संसार में अविद्यावान पुरूष स्वयं के लिये दुःख उत्पादित करते हैं और मूढ़ बने इस अनंत संसार में बार–बार आधि–व्याधि वियोगादि दुःख से पीड़ित होते हैं। इस कथन के संदर्भ में श्रेयांस भगवान् की साधना पर दृष्टिपात अज्ञान का नाश करने वाला बन सकता है।

श्रेयांसनाथ भगवान् श्रेय मार्ग पर अग्रसर हुए और श्रेय मार्ग की पूर्णता को प्राप्त कर उन्होंने बताया कि संसार में मनुष्य के सम्मुख दो मार्ग हैं पहला श्रेय मार्ग और दूसरा प्रेय मार्ग। इन दोनों का संकेत कविता की पंक्तियों में भी किया है। इन्द्रियरामी और आत्मरामी ये दो अवस्थाएँ हैं। इन्द्रियाँ पौद्‌गलिक हैं। जब व्यक्ति इनकी दिशा में बढ़ता है तो वह गति होती है प्रेयमार्ग की और जहाँ अंतर आत्मा की दिशा में गति करे तो वह श्रेय मार्ग पर बढ़ता है। श्रेय मार्ग वही है जिससे वह अपने स्वरूप को साध सके और उसमें स्थित हो सके।

एक शिष्य गुरू चरणों में अध्ययनरत था। ध्यान कोष्ठक में निवृत्त होते हुए एक प्रश्न उभरा, विचार पैदा हुआ– मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? पहुँचा गुरूदेव के चरणों में और पूछने लगा– गुरूदेव ! कर्म बंध की किया से संसार है तो मोक्ष क्या है ? गुरू ने कहा– चलो वत्स। इसकी भी खोज करें। दोनों साथ साथ चलने लगे।

तैरने लगती है। इसलिए कि तनाव दूर हो गया होता है, भार उतर गया होता है।

महाभारत की भी घटना है। द्रौपदी को जब राज–सभा में लाया गया और दुःशासन उसके वस्त्र खींचनें का प्रयत्न करने लगा तब पहले तो द्रौपदी ने स्वयं को बचाने की बहुत कौशिश की। इधर से उधर घूमती रही। साड़ी को लपेटे रखने के सभी प्रयत्न करती रही, जब तक निर्वस्त्र हो जाने के भय का बोझ रहा उसकी हालत दुविधाजनक रही। पर जैसे ही उसने बोझ को अलग किया और स्वयं को परमात्म–चरणों में समर्पित किया, वैसे ही चीर बढ़ने लगा, बढ़ता चला गया।

कैसे हो गया यह सब ? गुरु ने कहा– शिष्य ! यदि तू मुक्ति की डगर पर बढ़ना चाहता है तो अपने हाथ–पाँव पछाड़ना छोड़ दे, बचाव की कौशिश छोड़ दे। जैसे मृत कलेवर जिधर उसे बहाव ले जाता है उधर ही बहता चला जाता है वैसे ही तू अपने आप को समर्पित कर दे, जो भी दिशा निर्देश मिले उस पर बढ़ता चला जा। बस यही मुक्ति की ड़गर है। जब तक व्यक्ति आशा–आशंकाओं के ताने–बाने बुनने में लगा रहता है, सोचता रहता है कि मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ, वह अलग अपने लिये समस्याएँ खड़ी करता रहता है। पर जब सोच लेता है कि मुझमें शक्ति कहाँ है, मुझसे बढ़कर कितने ही शक्ति–शाली हैं, मैं तो कुछ नहीं हूँ। मैं कर ही क्या सकता हूँ। वैसे ही उसे आगे का मार्ग दिख जाता है। कभी–कभी भाई कुछ धर्म स्थान आदि की व्यवस्था कर देते हैं, अस्पताल आदि की सुविधा उपलब्ध कर देते हैं तो प्रसंग आने पर उनमें अहं का अलग ही भाव पैदा हो जाता है– मैंने धर्म स्थान बनाया है, अस्पताल बनवाई है। भाई तूने क्या करवाया ? चक्रवर्ती के पास छः खण्ड़ थे। उसने क्या–क्या नहीं बनाया होगा, पर क्या रहा ? उसके साथ क्या गया ? तुम क्या ले जाओगे ? ये भाव साथ जुड़ते हैं तो वे मुक्ति के रोधक बनते हैं।

विमुक्तये' अर्थात् विद्या तो मुक्ति को दिलाने वाली है। परन्तु जहाँ विपरीत विद्या या अविद्या है वहाँ मुक्ति नहीं होगी वह तो बाधक बनेगी। कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं– *'जे किरिया करी चहुगति साधे, ते न अध्यात्म कहिये रे।'*

क्रिया एक है, फल दो होते हैं। जो क्रिया संसार को बढ़ाने वाली है वही घटाने वाली भी बन जाती है। उदाहरण के रूप में घर में एक बच्चा जिसके हाथ में चाकू है, इस चाकू से साग–भाजी आदि काटी जाती है पर इसी से वह हाथ की अंगुली भी काट सकता है और उसी से डॉक्टर चीर फाड़ कर बीमारी दूर कर जीवन दान दे सकता है। कुछ असामाजिक तत्व हिंसा के लिये भी चाकू का प्रयोग करते हैं। चाकू चलाने की क्रिया तो एक है पर भावों के आधार पर उसके प्रयोग की क्रिया भिन्न व्यक्ति के आधार पर भिन्न होती है। यदि भावों में अविद्या का वास है तो वह क्रिया व्यक्ति को मुक्ति की ओर नहीं ले जा पाएगी, परन्तु यदि अविद्या का दबाव नहीं रहा तो वह मुक्ति की ओर बढ़ सकता है। दबाव से बढ़ने वाला अभवी जीव कहलाता है। ऐसा व्यक्ति साधु जीवन भी स्वीकार कर ले, गौतम स्वामी जैसी कठोर क्रिया भी कर ले पर उसको मोक्ष अनन्तकाल तक भी प्राप्त नहीं होगा। जब तक अविद्या का दबाव है, कोई भी कठोर आराधना उसे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा पायेगी। उसका कभी मोक्ष नहीं है क्योंकि ऊपर दबाव होने से वह मोक्ष की दिशा में नहीं जा पाएगा, न ही इन्द्रियरामी अवस्था से हटकर अंतररामी/आत्मारामी अवस्था की ओर बढ़ पायेगा। इसलिए कवि आनन्दघनजी ने इन्द्रियरामी अवस्था के लिए कहा है– *'संयल संसारी इन्द्रियरामी'*

जितने भी संसारी इन्द्रिय पोषण में लगे हुए हैं, वे श्रेयमार्ग को प्राप्त नहीं हुए हैं। वे तो इन्द्रिय पोषण के क्षणों में भूले हुए हैं और इस कारण आत्म–पोषण से दूर हैं। यद्यपि मुनि भी भोजन करते हैं पर उस प्रकार के पोषण में अथवा आहार क्रिया में अंतर होता है।

मैं शहर से आया हूँ। अरे बेटा ! इतना सूत कौन कातेगा ? आगंतुक ने कहा– माँजी आपको मालूम नहीं क्या, जो गाड़ियाँ इधर से गई थीं उनमें आग लग गई और सारा कपास जल गया। वृद्धा ने पूछा– क्या सारा कपास जल गया ? हाँ माँजी सारा कपास जल गया। माँजी ने शांति की श्वाँस ली, चलो एक समस्या दूर हुई । अच्छा हुआ जो जल गया, नहीं तो इतना सूत कौन कातता ? काम के लिये एक वही तो है और कोई है ही नहीं। जल गया, पिंड छूटा और वह पुनः अपने काम में लग गई। ये था उसके मस्तिष्क के बोझ का प्रभाव। आज व्यक्ति समझ नहीं पाता है, अनेक चिन्ताओं से घिरा रहता है और चाहता है मुक्ति डगर। इसलिये कठिनाइयाँ तो आयेगी पर जैसे ही वह बोझ को हल्का करके आगे बढ़ेगा, मार्ग सरल हो जायेगा। गुरू ने कहा जैसे ही व्यक्ति हाथ–पैर पछाड़ना छोड़ता है और सब कुछ अनुशास्ता पर छोड़, चिन्ता मुक्त हो कह देता है –

'अब सौंप दिया, इस जीवन का सब भार तुम्हारे हाथों में'

अब चाहे तारना या मारना, मेरी जीवन नैया की पतवार तुम्हीं हो । वह 'तुम' कौन है ? उसे चाहे गुरू कह दें चाहे परमात्मा कह दें पर वह है हमारी आत्मा ही और यह आत्मा ही परमात्मा बनने वाली है। जब वह पतवार यथार्थ में परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देता है तब फिर कोई चिन्ता नहीं रहती, कोई तनाव नहीं रहता, कोई बोझ नहीं रहता। और जब बोझ नहीं रहता तो फिर वह श्रेय के अंश को प्राप्त कर लेता है। श्री श्रेयांस भगवान् के मस्तिष्क पर भी अवतरित होने से पूर्व अनेक प्रकार का भार था। आज भी मैं जिस गाथा का उच्चारण कर गया – *'जावंतऽविज्जा पुरिसा।'*

अर्थात् जब तक अविद्या का वास हमारे मस्तिष्क में बना रहेगा, वह बोझ हल्का नहीं होगा तब तक श्रेयांसनाथ भगवान् की डगर में व्यक्ति के पैर नहीं बढ़ पायेंगे। तब सोचें यह अविद्या क्या है ? इसे विद्या के संदर्भ में देखें। कहा गया हैं– *'सा विद्या या*

विमुक्तये' अर्थात् विद्या तो मुक्ति को दिलाने वाली है। परन्तु जहाँ विपरीत विद्या या अविद्या है वहाँ मुक्ति नहीं होगी वह तो बाधक बनेगी। कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं– *'जे किरिया करी चहुगति साधे, ते न अध्यात्म कहिये रे।'*

क्रिया एक है, फल दो होते हैं। जो क्रिया संसार को बढ़ाने वाली है वही घटाने वाली भी बन जाती है। उदाहरण के रूप में घर में एक बच्चा जिसके हाथ में चाकू है, इस चाकू से साग–भाजी आदि काटी जाती है पर इसी से वह हाथ की अंगुली भी काट सकता है और उसी से डॉक्टर चीर फाड़ कर बीमारी दूर कर जीवन दान दे सकता है। कुछ असामाजिक तत्व हिंसा के लिये भी चाकू का प्रयोग करते हैं। चाकू चलाने की क्रिया तो एक है पर भावों के आधार पर उसके प्रयोग की क्रिया भिन्न व्यक्ति के आधार पर भिन्न होती है। यदि भावों में अविद्या का वास है तो वह क्रिया व्यक्ति को मुक्ति की ओर नहीं ले जा पाएगी, परन्तु यदि अविद्या का दबाव नहीं रहा तो वह मुक्ति की ओर बढ़ सकता है। दबाव से बढ़ने वाला अभवी जीव कहलाता है। ऐसा व्यक्ति साधु जीवन भी स्वीकार कर ले, गौतम स्वामी जैसी कठोर क्रिया भी कर ले पर उसको मोक्ष अनन्तकाल तक भी प्राप्त नहीं होगा। जब तक अविद्या का दबाव है, कोई भी कठोर आराधना उसे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा पायेगी। उसका कभी मोक्ष नहीं है क्योंकि ऊपर दबाव होने से वह मोक्ष की दिशा में नहीं जा पाएगा, न ही इन्द्रियरामी अवस्था से हटकर अंतररामी/आत्मारामी अवस्था की ओर बढ़ पायेगा। इसलिए कवि आनन्दघनजी ने इन्द्रियरामी अवस्था के लिए कहा है– *'संयल संसारी इन्द्रियरामी'*

जितने भी संसारी इन्द्रिय पोषण में लगे हुए हैं, वे श्रेयमार्ग को प्राप्त नहीं हुए हैं। वे तो इन्द्रिय पोषण के क्षणों में भूले हुए हैं और इस कारण आत्म–पोषण से दूर हैं। यद्यपि मुनि भी भोजन करते हैं पर उस प्रकार के पोषण में अथवा आहार क्रिया में अंतर होता है।

अविद्या हटते ही यह परिवर्तन हो जाता है। जब तक अविद्या है व्यक्ति इन्द्रिय पोषण में लगा रहता है, पर अविद्या के हटते ही वह सोचता है मुझे इन्द्रियों को बलिष्ठ नहीं बनाना है बल्कि आहार इसलिए लेना है ताकि साधना में वे सहयोगी बनी रहें। उनके सहयोग से आत्मा प्राणों का नियमित रूप में विकास कर सके। इस प्रकार की भावना के कारण रूपान्तरण हो जाता है क्योंकि बोझ हट जाता है और साधक श्रेयांसनाथ भगवान् के मार्ग पर बढ़ने लगता है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा यदि बोझ लेकर चले तो वह अपना उठाव कर नहीं सकेगी वह तो हल्की होकर ही अपना उठाव कर सकती है। भगवती–सूत्र में जयन्ती बाई ने प्रश्न किया– भगवन् ! जीव किस कारण से भारी व किस कारण से हल्का होता है ? भगवान् ने उत्तर दिया– प्राणातिपात आदि 18 पापों के आचरण से जीव भारी व 18 पापों के त्याग से हल्का होता है।

तुम्बे के उदाहरण से इस बात को समझें। एक तुम्बा है। उस पर गीली मिट्टी का लेप लगाया गया। उसे सुखाकर फिर से ऊपर डोरी लपेट कर फिर लेप लगाया गया। इस प्रकार आठ बार लेप करके फिर उसे पानी में डाला जाय तो वह डूब जायेगा। पर जब धीरे–धीरे मिट्टी गलेगी, डोरों के बंधन शिथिल होकर खुल जायेंगे तो वह तुम्बा ऊपर आ जायेगा। प्रभु महावीर ने कहा है ये लेप अविद्या का पोषण करते हैं। बोझ उतना ही गहरा पहुँचता है जितना वह भारी हो जाता है। यदि व्यक्ति पापों से विरत होकर लेपों को दूर करने में संलग्न हो जाय तो धीरे–धीरे सारे लेप दूर हो जायेंगे और वह निर्लेप हो जायेगा। तब उसे तिरने में, ऊपर उठने में देर नहीं लगेगी। अविद्या से बोझिल बने रहने पर गति में उसी प्रकार प्रकर्षता नहीं आयेगी जैसा कोई चाहे कि 8–10 किलो का भार लेकर पहाड़ी पर शीघ्र चढ़ जाऊँ। ऐसा प्रयास करने वाला शीघ्र ही थक जाएगा। और क्षेत्रीय दृष्टि से ऊपर नहीं उठ पायेगा। और यदि कहीं नीचे

गिर गया तो फिर स्थिति गंभीर हो सकता है। वह व्यवस्थित नहीं रह पाएगा। उससे विपरीत जो बोझ से हल्का होता है। वह उर्ध्वगति शीघ्रता से कर सकता है। इस कथन से अध्यात्म की दृष्टि से विचार किया जाय तो पाप से हल्का होने पर उत्क्रान्ति हो सकती है।

प्रसंग है जब हनुमान लंका में पहुँचे तो उनका विकराल रूप था। उन्हें इन्द्रपाश से बाँध दिया गया, सोचने लगे मैं मुक्त कैसे होऊँ? तनाव छोड़ा, शरीर को शिथिल किया, बंधन ढ़ीले पड़ गए। और वे निकल कर स्वतन्त्र हो गये। जब तक हम तनाव में रहते, बंधन जकड़ता चला जाता है। जैसे रेशम की डोर में गाँठ लग जाय और उसे दोनों छोर से पकड़ कर खींचें तो वह गाँठ कसकर पक्की हो जाती है, पर यदि बंधन को ढ़ीला छोड़दें तो गांठ कसती नहीं। तनाव में ग्रन्थि ढ़ीली नहीं होगी, बढ़ेगी। यद्यपि रस्सी का वजन कम ज्यादा नहीं होगा पर लम्बाई में अन्तर आ जायेगा। वह सिकुड़ जायेगी। गुरू ने बताया– शिष्य यह है मुक्ति का मार्ग –तनाव को दूर करो और यह होगा योग के निरोध से। योग–निरोध के लिए ध्यान का प्रावधान है। ध्यान ही वह अवस्था है जिसमें तनाव दूर हो जाता है, शरीर शिथिल हो जाता है और फिर विचारों में भी शैथिल्य आ जाता है। मानसिक धारा शिथिल होने पर चित्त वृत्तियों के लेप गिर जाते हैं और गिरने का वह क्षण शांति का क्षण होता है। योगा करने वाला शरीर को शिथिल करता है। 'शवासन' में मुर्दे जैसा पड़ जाता है, हलन–चलन नहीं रहती, निष्क्रियता आ जाती है। शरीर बहुत कुछ निष्क्रिय होने पर धीरे–धीरे लगेगा कि श्वास भी नहीं है परन्तु उस अवस्था में घबराना नहीं चाहिये। लगेगा जैसे शरीर हवा में उड़ रहा है और ऐसा होता है। कल्पना की बातें नहीं हैं। ये स्थितियाँ वस्तुतः बनती हैं शिथिलीकरण से। ऐसी अवस्था में विचार भी तिरोहीत हो जाते हैं, सुषुम्ना प्रवाहित होने लगती है। फिर लगता है कि शरीर पड़ा है पर आत्मा ऊर्ध्वारोहण कर दिव्यलोक में विचरण

कर रही है। पर ऐसा होगा शरीर को शिथिल करने पर ही। यदि शरीर में दर्द है तो वह भी ऐसी अवस्था में शांत हो जायेगा। विकार भी शांत हो जायेंगे और यदि विकार शांत हो गए तो एक दिन मोक्ष मार्ग के पथिक भी बन पायेंगे।

श्रेयांसनाथ भगवान ऐसी साधना से ऊर्ध्व मुखी होकर सदा सदा के लिए निरंजन, निराकार अवस्था को उपलब्ध हुए। उनका उदाहरण सामने है।

अपने जीवन को सुसंस्कारित एवं ऊर्ध्वमुखी बनाने के इच्छुक साधकों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिये क्योंकि उनका अनुकरण कर ही श्रेय मार्ग पर गतिमान हुआ जा सकता है। मोक्ष की दिशा में ले जाने वाला यही मार्ग है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है। ००

दि. 16.10.96



19. आध्यात्मिकता की प्राप्ति का मार्ग

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी आतम रामी नामी रे।
अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे॥

यह विचार का विषय है कि आध्यात्मिक साधना से तात्पर्य क्या है ? इस संदर्भ में श्रेयांसनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए कवि ने कहा है– अध्यातम मत पूरण पामी।

अर्थात् श्रेयांसनाथ भगवान् ने अध्यात्म मत को पूर्णता से प्राप्त कर लिया है। अधि + आत्मनि् सप्तमी विभक्ति में अधि उपसर्ग का उपयोग होता है जिसे आत्मा के साथ जोड़ देने पर अर्थ हुआ 'आत्मा में'। अध्यात्म का तात्पर्य हुआ आत्मा के भीतर। तब अध्यात्ममत का अर्थ हुआ भीतरी अवस्था को जिसने पूर्णता से ज़ान लिया है। आत्मा के भीतर तो राग, द्वेष, कषाय आदि भी हैं यद्यपि वे सभी इस रूपी आत्मा से संबंधित हैं तथापि वे आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं। पर उन्होंने आत्मा में अपना अवस्थान बना रखा है उसी प्रकार जिस प्रकार किसी का भला करने के लिए या घर पर आये अतिथि का सत्कार करने के लिये उसे घर में स्थान दे दिया जाय। लेकिन आ जाने के बाद घर पर वह अपना कब्जा जमा ले। यह कब्जा वह स्वयं ही नहीं बल्कि परम्परागत, वंशानुगत अवस्था से चलता रहता है। वैसे ही अनादि काल से राग द्वेष का कब्जा हमारी आत्मा पर अब तक चला आ रहा है। उसकी पीढ़ी अब भी कब्जा जमाये हुए है। वह भी अध्यात्म कहलाता है, पर वह अध्यात्म की अवस्था नहीं है। अध्यात्म की अवस्था में आत्मा के मौलिक गुणों अथवा धर्मों का ही प्रकटीकरण होता है। जैसे घर पर उसके मूल निवासियों का अधिकार होता है, अतिथियों का नहीं। तब वह है अध्यात्म मत की पूर्णता। श्रेयांसनाथ भगवान् ने आत्मा के एक–एक धर्म को या श्रेय मार्ग के एक–एक अंश को प्रकट करते हुए पुरूषार्थ से पूर्णता को प्राप्त

थे ? यह लाश तो वापस आ गई। वह दूसरी छोड़कर आया फिर तीसरी छोड़कर आया। दूसरी बार तो गड्ढे में डालकर आया। तीसरी बार नदी में डाल आया। जब चौथी बार फिर भेजा गया तब वापस आकर उसने कहा अब मेरे वश की बात नहीं है। पता नहीं ये कैसा भूत है। ऐसा ही भूत अविद्या का है। पर व्यक्ति समझ नहीं पाता।

कहने का तात्पर्य यह है कि अविद्या के कारण दुःख श्रृंखला चलती रहती है, फिर पतन होता है। ऐसी स्थिति में अध्यात्म दिशा में पूर्णता प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है।

एक और उदाहरण लें। अंजलि की सहसा नींद खुली वह गुस्सा करने लगी। कभी व्यक्ति को नींद आ रही हो और बीच में जगाने का प्रयास किया जाय तो उसे गुस्सा आ जाता है। कारण था कुछ खट–खट की आवाज का सुनाई पड़ना, जिसके कारण अंजलि की नींद खुल गई थी। नींद खुलते ही दिमाग पर प्रेशर पड़ा और उसे गुस्सा आ गया। आवाज थी श्वसुर जी के खड़ाऊ की। पहले तो वे चप्पल पहनते थे पर अब जब से पूजा भक्ति में लगें हैं तब से खड़ाऊ ही पहनते हैं जो लकड़ी के होते हैं और जिन्हें पहनकर चलने पर खट–खट की आवाज होती है। अंजलि से रहा नहीं गया। पास सो रहे पति को जगाया– कुंभकरण से सोये रहोगे या उठोगे। मैं कुंभकरण नहीं हूँ। खट–खट से आपकी नींद नहीं खुली क्या ? उत्तर मिला– खुली तो थी पर करूँ तो क्या करूँ ? एक दिन की बात तो है नहीं रोज–रोज की है। आखिर कब तक चलेगा ? नींद हराम हो गई है, आफिस में भी सुस्ती रहती है। बॉस नाराज होते हैं। पत्नी ने कहा आप पिताजी से बात क्यों नहीं कर लेते है ? पति को सिहरन हुई। क्या बात करूँ पिताजी से एक समय के वे नामी वकील रहे हैं। उनकी तार्किक दृष्टि के सामने कोई टिक नहीं सकता। मेरी तो हिम्मत नहीं है। तुम्हीं जाकर बात क्यों नहीं कर लेती। जो कहना

है कह दो, पर मुझ में साहस नहीं है। जैसे–तैसे चुप हुआ तो अंजलि कहने लगी इतना सा काम नहीं कर सकते फिर कैसा क्या पौरूष है तुम्हारा ? कम से कम बात करके तो देखो। पति ने कहा ठीक है– मैं प्रयत्न करूँगा। सुबह उठा, जहाँ पिताजी का पूजा गृह था, वहाँ पहुँचा ।

अंजलि और पूजक दोनों नोकरी करते थे। अंजलि पहले जाती थी, पूजक बाद में। पूजक पहुंचा, पिताजी पूजा कर रहे थे। पूजा समाप्त हुई तब बोले– पूजक तुम ठीक समय पर आये, आओ बैठो। क्या बात है ? इन्हें मालूम पड़ गया क्या ? "बेटे सामने की आलमारी के ऊपर का दरवाजा खोलो, वह फाइल लाओ। खोलो और देखो, इसमें मकान की डीड बनी है, तुम इसके मालिक हो, इसलिए तुम्हें बता रहा हूँ कि तुम्हें सोचने समझने में सुविधा रहे। तुम्हारे नाम कर दूगाँ। और नीचे की आलमारी में पुस्तकें हैं, उनसे तुम्हारा मतलब नहीं। उन्हें मैं आश्रम में दे दूँगा। अब फाइल वापस आलमारी में रखकर अलमारी बंद कर दो। जाओ तुम्हें विलम्ब होगा।" पत्नी ने पूछा– आज कुछ बात चली। यह खड़ाऊ की बात ठीक नहीं है। रोज खट्–खट् चलती है, पिछली रात्रि में ही वे जल्दी उठ जाते हैं। दैनिक क्रिया से निवृत्ति के बाद पूजा–पाठ में लग जाते हैं। अंजलि के दिमाग मे यह खट्–खट् चलती।

कुछ दिन बीते फिर कहा– पूजक जाओ। वह जाने की तैयारी में था इतने में नौकर आया कहा– बाबूजी बुला रहे हैं। पूजक पहुँचा। पिताजी ने चाबी दी, आलमारी खुलवाई। दूसरी फाइल निकलवाई। कहने लगे– इसमें पूरा बैंक बेलेन्स है– आठ लाख का। चार लाख तुम्हारे व चार लाख अंजलि के नाम में है। मैं तुम्हें जानकारी के लिए बता रहा हूँ। सावधानी से रख दो और वापस आलमारी बंद करवा दी। ये बातें होती रही। पूजक ने पूछा भी पिताजी, आप अभी क्यों बता रहे हैं ? बेटे अब समय ज्यादा नहीं है। बेटे, एक बात का ध्यान

रखना। जब मेरी मृत्यु हो जाय तो मेरी जनेऊ में यह चाबी रहती है उसे निकालना मत भूलना। पूजक आज भी बात चला नहीं पाया।

पत्नी से जाकर सारी बात कह दी। अजंलि ने सुना आठ लाख ! अब तो जिंदगी में बहुत कुछ कर सकेंगे। अब तक नौकरी करते रहे, फिर तो कहना ही क्या। लेकिन यह खट्–खट् मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती। मैं दिन भर अन्य–मनस्क रहती हूँ। पूजक प्लीज ! पिताजी से कह दो। क्या करता, पूजक फिर पहुँचा। पिताजी ने कहा आओ बैठो। क्या कहना चाहते हो ? उत्तर मिला– वैसे तो कोई खास बात नहीं है। पर छोटी सी बात निवेदन करना है, बोलो। पिताजी आप की वृद्धावस्था है। पहले आप चप्पल पहनते थे, अब भी वही ठीक है। खडाऊँ से पैर लचक सकता है, मौच आई तो कठिनाई होगी। खडाऊँ छोड़ दीजिये। पिताजी ने कहा– मेरी दिक्कत तो जाने दो तुम्हारी नींद में दखल पड़ता है। तुम तकलीफ मत उठाओ, मैं उतार कर रख दूँगा। पूजक उठा, ऑफिस चला गया। वापस आया देखा, पिताजी खूब पूजा पाठ में लगे थे। फिर ऊपर गये और रूम में चित्त लेट गए। नौकर दौड़ता हुआ आया। पिताजी की तबीयत खराब है। पूजक भागा भागा ऊपर गया। देखा, तबीयत नरम है। पिताजी आप क्या कर रहे हैं ? इष्ट देवता का स्मरण कर लो, गला रूंधा था, होठ हिल रहे थे, आवाज नहीं निकल रही थी। डॉक्टर को बुलाया गया। नब्ज देखी। सब बेकार। इतने समय में जाने वाला चला गया था, रहने वाला पड़ा था। पूजक को याद आया– पिताजी ने कहा था जनेऊ से चाबी निकाल लेना। उसने टटोली, नहीं मिली। तो सोचा अंजलि ने निकाल ली होगी। क्रिया–कर्म हो गया। बात चली– श्राद्ध करना है, कहाँ करें ? पूजक ने कहा– इस घर में ही करेंगे। अंजलि ने कहा– घर में ही करेंगे ? घर खराब हो जायेगा। आश्रम में ही कर लें, वहीं भोजन हो जावेगा। धर्मशाला फिर किस काम आयेगी। घर गंदा करने के लिए थोड़ी है। धर्मशाला में किया और छुट्टी। विचार

करने की बात है, जिन्होंने घर छोड़ा उन्हीं के लिए कह रहे है 'घर खराब हो जावेगा', यही है अविद्या। व्यक्ति जान नहीं पाता, जाल बिछाता जाता है। अविद्या की जकड़न में स्वयं को भूल जाता है। श्राद्ध हो गया। जितनों को आमंत्रित किया गया था, उनमें से कई पहुँचे, कई नहीं पहुँचे।

एक वकील शुभेन्दु आया, पूजक के कंधे पर हाथ रखा– तबियत कैसी है ? मैं बिना कार्ड ही चला आया। आता क्यों नहीं, आपके पिताजी से मैं जूनियर हूँ। उनके पास ही वकालात सीखी थी। ऐसे समय में कैसे नहीं आता। मुझे तुमसे कुछ बातें करनी हैं। अगले रविवार मैं घर पर ही मिलूँगा। अच्छा यह तो बताओ– अब आगे कहाँ जाने का विचार है ? पूजक ने कहा–मैं कुछ समझा नहीं। शुभेन्दु ने कहा– तुम्हें मकान छोड़कर कहाँ जाना है ? कहाँ निवास करोगे ? पूजक ने कहा– मकान छोड़ने की क्या आवश्यकता है, पिताजी ने तो मेरे नाम करवा दिया है। शुभेन्दु ने कहा– ऐसी बात नहीं है, यह घर अब तुम्हारा नहीं रहा। पूजक ने कहा– फाइल मेरे पास है। उत्तर मिला– नहीं बेटे, अब नहीं है। उन्होंने चाबी दी ? उसे आश्चर्य हुआ– यह पिताजी के जनेऊ में रहती थी, उसके पास कैसे ? पूजक ने आलमारी खोली। फाइल धर्म ग्रन्थ सब नदारद थे। वकील सा. ने बताया धर्म ग्रन्थ तो आश्रम को भेंट कर दिए गए हैं। मकान की डीड वाली फाइल मेरे ऑफिस में पड़ी है। कल ही आपके पिताजी ने नाम वदल कर 8 लाख रूपये व मकान आश्रम को भेंट कर दिए हैं। पूजक के पैरों तले से जमीन खिसकने लगी। सोचा था 8 लाख रूपये मिलेंगे तो श्राद्ध में भी कुछ खर्च कर दिया था। वकील साहब ने बताया कि यह सब कैसे हुआ ? तुम्हारे पिताजी ने सोचा जब खड़ाऊ की खट्–खट् की आवाज भी ये सह नहीं पाये तो इतनी राशि और मकान इनके लिए बोझ बन जाएंगे, इसलिए मैं इन्हें तकलीफ नहीं देना चाहता। जो खट्–खट् सह पायेगा वही सम्पत्ति

का मालिक बन सकेगा।

यह है अविद्या जो अनेक रूपों में उभरती है। आध्यात्म में प्रवेश करने के लिए सहिष्णु बनना होता है। पिताजी के पूजा आदि कार्यों में सहयोगी बनना चाहिए। पर हम विचार करते हैं कि ये जल्दी उठकर खट्–खट् करते हैं, हमें खट्–खट् सहन नहीं होती है। यह सहन नहीं होना अविद्या का द्योतक है। मालिक बनने और सम्पत्ति की चाह तो जागी पर सेवा सुश्रूषा, सत्कार–सम्मान का भाव हममें नहीं रहा। ऐसी स्थिति में वृद्ध पुरूष कितनी अपेक्षाएँ हमसे रखते हैं। आज व्यक्ति चाबियों को पाना चाहता है पर उन चाबियों को पाने की कुंजी (कला) क्या है, यह नहीं जान पाया है। इस कुंजी या मार्ग को जिसने जान लिया वही चाबी प्राप्त कर सकता है। कवि आनन्दघनजी तो प्रार्थना करते हुए कहते हैं– अध्यात्म को पूर्ण रूप से प्राप्त करना है। किन्तु हमारे सामने समस्या है, एक संगीन परत है। किले के भीतर, राजमहल के भीतर प्रवेश से पूर्व संगीन दरवाजे हैं। पूर्व समय में ऐसे द्वार होते थे जिन्हें हाथी भी तोड़ने का प्रयत्न करे तो तोड़ नहीं पाते थे। ऐसी ही परत हमारे चिन्तन के बीच में है। यदि हम उस परत को तोड़ भी दें तो आगे जाल बिछा हुआ है, जाल में उलझ जाते हैं। यदि जाल का उल्लंघन हो जाए तो आगे पारदर्शी आईना है जिसमें राजमहल का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति सोच लेता है कि वह अध्यात्म के राज–महल में प्रविष्ट हो चुका है, पर वस्तुतः वहाँ प्रवेश नहीं हुआ होता है। आज अध्यात्म की चर्चा करने वाले बहुत मिल जाएंगे पर अध्यात्म किस चिड़िया का नाम है इसका तो उन्हें पता ही नहीं होता। अध्यात्म की शाब्दिक चर्चा भले कर ले पर यदि उसको समझ नहीं पाये तो उपलब्धि कुछ नहीं होगी। बुद्धि समझती है मैं भीतर प्रविष्ट हो चुकी हूँ पर भीतर प्रवेश नहीं हुआ होता है। हम बाहर ही बाहर भटक रहे होते हैं। कहा भी है –

'पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।'

कितने नाम हमने धरायें हैं उनकी सूची नहीं बना पायेंगे। बनायेंगे तो कितने ही शास्त्र, कितने ही कागज भर जायेंगे। एक नाम के पीछे तो व्यक्ति तूफान खड़ा कर देता है पर यह नहीं सोचता कि जब उसने एक नहीं अनेक नाम छोड़ दिए तब इस नाम की चिन्ता क्यों ? यह नाम भी तो नहीं रहेगा। पर अभी कोई आपका नाम लेकर कुछ अनुचित कह दे तो वहाँ तो मूछों का सवाल खड़ा हो जायेगा, बुरा लगेगा। इस एक नाम के सम्मान के पीछे क़ितनी दौड़–धूप होगी ? लेकिन यदि अपने घर पहुँच गए तो वह 'अनामी' दशा बन जायेगी। सिद्धों का कोई नाम नहीं है। पूर्व पर्याय से हम भले नाम ले लें, यहाँ के किसी आधार से सम्बोन्धित कर दें, पर वहाँ कोई भेद नहीं है, कोई अंतर नहीं है। अंतर है तो आत्मा की अवगाहना का, वह भी पर सापेक्ष होने से। आत्म शक्ति की अपेक्षा से वहाँ अंतर नहीं है। अब तक हमनें इन संगीन दिवारों को नहीं जाना। आत्मा में प्रवेश से पूर्व सबसे पहले यह काया की संगीन दीवार है। राजमहल में प्रवेश से पहले इसे तोड़ना होगा। हृदय बहुत भीतर है। उसके ऊपर हड्डियों का आवरण है। ये हड्डियाँ भी कितनी कठोर हैं। यदि इनका भेदन करके आगे बढ़े तो आगे जाल बिछा हुआ है। वह जाल है भाषा का, वचनों का। व्यक्ति उसमें उलझ जाता है तो आगे जाना भूल जाता है। यदि किसी प्रकार आगे बढ़ भी गया तो फिर आगे मन रूपी पारदर्शी शीशा है, जैसे आज व्यक्ति भीतर से ही देखकर जान लेता है कि बाहर कौन है, उसी प्रकार मन रूपी काँच की दीवार पर प्रतिविम्ब पड़ता है और व्यक्ति सोचता है मैंने अध्यात्म में प्रवेश पा लिया है। कवि कह रहा है यह तो बच्चों का खेल था पर वास्तव में वह अध्यात्म नहीं है। अध्यात्म को पाने के लिए उस पारदर्शी काँच को तोड़ना होगा। सोचना होगा भीतर प्रवेश कैसे होगा? यदि वह रहस्य प्राप्त कर लिया फिर धीरे–धीरे अंदर बढ़ते चले गए तो वह

अध्यात्म प्राप्त होगा। जैसे काँच को काटने के लिए हीरे की छोटी सी कणी होती है वैसे ही श्रेय का अंश उस पारदर्शी काँच को काटने में समर्थ है। यदि उस श्रेय के अंश को प्राप्त नहीं किया तो उस दीवार को नहीं काट पायेंगे और आत्मा में अवस्थान नहीं हो पायेगा। मन के, काँच का भेदन करने पर हम आत्मा में प्रविष्ट होंगे परन्तु यह कला प्राप्त हो सकती है तीर्थंकरों की उपासना, आराधना एवं स्तुति से।

प्रश्न किया गया– भगवन् ! स्तुति से क्या लाभ होता है ?" भगवन् ने कहा– स्तुति करने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र का बोधि प्राप्त होती है। वह बोधि पारदर्शी काँच को काटने में समर्थ है। आध्यात्मिक चिंतामणि को तजकर, पारदर्शी काँच की ओर आकर्षित नहीं होना चाहिए। गंधहस्ती को छोड़ गधे की सवारी कौन करे ? आम को छोड़कर इमली और कल्प वृक्ष को छोड़ कर एरण्ड़ कौन चाहेगा ? विशाल वट वृक्ष की घनी छाया को छोड़कर खेजड़ी का आश्रय कोई नहीं चाहता है, क्योंकि खेजडी का फैंलाव नहीं होता। वहाँ तो एक व्यक्ति को भी पर्याप्त छाया उपलब्ध नहीं हो सकती। यदि कोई वट वृक्ष को छोड़ खेजड़ी के आश्रय को ग्रहण करे तो उसे मूर्ख ही कहा जायेगा। एक ओर सिंह है और दूसरी ओर गीदड़, बताईये कौन श्रेयस्कर है। यदि अपना सम्मान रखना है तो व्यक्ति सिंह का स्वरूप ही चाहेगा । एक ओर चावल है दूसरी और भूसा, आप क्या ग्रहण करेंगे ? उत्तराध्ययन सूत्र (१/५) में कहा गया है–

'कण कुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरो'

एक महारानी ने भंडसूरी के बच्चों को महलों में बुलाया। निश्चय किया, इन बच्चों का जीवन मोड़ना है। उन्हें प्रतिदिन महलों में ऐसे बासमती चावल खिलाये जाते जैसे दूसरों को शायद देखने को भी न मिलें, उन्हें सोने–चाँदी के थाल में भरकर चावल खिलाये जाते। एक दिन ऐसा हुआ कि एक तरफ तो कुंडे भर चावल पड़े थे दूसरी ओर राजकुमार ने अशुचि कर दी। वह भंडसूरी का बच्चा कुंड़े

को छोड़कर विष्ठा की ओर लपका। सांसारिक प्राणी भी ऐसा ही नादान है, भ्रष्ट संस्कार है जो अध्यात्म को छोड़ कर विष्ठावत् सांसारिक उपभोगों के प्रति आकर्षित होता है। परन्तु जो बुद्धिमान है वह तो अध्यात्म की ओर ही आकर्षित होगा। उसकी धर्म के प्रति, अध्यात्म के प्रति, गहरी निष्ठा होगी–

'जीवो छे तो धर्मना काजे, मरवू छे तो धर्म ना काजे।'

धर्म के खातिर ही जीना और मरना है ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा पैदा होगी तो हमारे भीतर अनिर्वचनीय शक्ति का स्रोत प्रादुर्भूत होगा। श्रावक के लिए कहा गया है– देव, गुरू और धर्म के प्रति अविचल आस्था और श्रद्धा रखकर वह गति करे तो वह आध्यात्मिक महल की दिवारों, जालों और भ्रमों का उच्छेद करके भव्य महल में प्रविष्ट हो सकेगा। और आस्था को अविचल रखकर वह आगे बढ़ेगा तो वह पूर्ण आध्यात्मिकता को प्राप्त कर पायेगा। **OO**

दि. 17.10.96



20. अध्यात्म-रमणता का आनन्द

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी आतम रामी नामी रे।
अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।।

कहा गया है– "सयल संसारी इन्द्रियरामी" अर्थात् सकल संसारी इन्द्रियरामी हैं। इन्द्रिय पौद्गलिक संरचना है और जो इस पौद्गलिक संरचना में ही आनंद मान रहा है या यों कह दें इन इन्द्रिय विषयों से जो प्राप्त हो रहा है उसी में आसक्त रहता है उसे ज्ञानीजन संसारी कहते हैं। आध्यात्मिक जीवन का रस उसे नहीं मिला होता है। इन्द्रियों के भी दो विभाग हैं, पहला ज्ञान का, दूसरा कर्म का। ये पौद्गलिक इन्द्रियाँ ज्ञान में भी सहयोगी बनती हैं। जिस समय ये ज्ञान में सहयोगी बन रही होती है वह क्षण अध्यात्म का होता है। परन्तु सामान्यतः मनुष्य इन्द्रिय विषयों को ही ग्रहण करता है। जब तक व्यक्ति उन विषयों में लिप्त रहता है, वह अध्यात्म में आगे नहीं बढ़ पाता। परन्तु श्रद्धा के बल पर वह आगे बढ़ सकता है। इस दृष्टि से उसके सामने भगवान् के कानों में कील ठोकने की तथा गजसुकुमाल मुनि के सिर पर अंगारे रखने जैसी बातें आती हैं। पर आज के वैज्ञानिक तर्कशील हैं, वे शोध करते हैं। शोध में सत्य निकलने पर ही वे उसे ग्रहण करने के लिए तत्पर होते हैं, अन्यथा ग्रहण नहीं करते। व्यक्ति बैठा है, मच्छर काटे तो सहसा हाथ पहुँच जायेगा खुजाल करने। मच्छर नहीं भी काटे, फिर भी उसे वहम हो कि मच्छर बैठा है तो भी वह उसी समय खुजाल के लिए तत्पर हो जाता है। कभी खोज की कि ऐसा क्यों होता है ?

एक बैलगाड़ी जा रही है जिसमें चार व्यक्ति सवार हैं। इनमें से तीन व्यक्ति शराब पिये हुए है और एक व्यक्ति अपनी सहज अवस्था में है। मार्ग में जाते हुए अचानक बैलगाड़ी ने पलटा खाया, दुर्घटना हो गयी, सभी सवार नीचे गिर पड़े। देखा गया– उस सहज

अवस्था वाले व्यक्ति को चोट आई, हड्ड़ी क्रेक हो गई, पर शराबी तो अपनी मस्ती में थे उन्हें कहीं भी चोट नहीं आई थी। होना तो ये चाहिये था कि शराब के नशे के कारण वे अपनी सुध–बुध में नहीं थे अतः उन्हें ज्यादा चोट लगती, पर लगी नहीं। हम सोचेंगे उनका बचाव कैसे हुआ ? यदि तह में पहुँचे तो ज्ञात होगा कि शराबी उस समय अपनी चेतना में उपस्थित नहीं थे। उन्हें भान ही नहीं था कि गाड़ी पलटा खा गई और वे गिर गए थे। जब तक व्यक्ति कहीं जुड़ता नहीं है, उसे वेदना नहीं होती। आपने अनुभव किया होगा, घर में बच्चे दौड़ रहे हैं, खेल–खेल में यदि वे गिर जायें तो फिर उठ कर दौड़ने लगते हैं। परन्तु यदि आपने उन्हें गिरते देख लिया तो चोट लगी हो या नहीं वे रोने लगेंगे। अपने को जोड़ा तो पीड़ा की अनुभूति हुई, नहीं तो खलते–खलते दिन भर में न जाने कितनी बार गिर पड़ते हैं पर वेदना का अहसास जुड़ने पर ही होता है।

भगवान् महावीर और गजसुकुमाल मुनि ने स्वयं को इस जुड़ाव से भिन्न कर लिया था। उन्हें यह भेद–विज्ञान हो गया था कि शरीर अलग है और आत्मा अलग है। यह भेद–विज्ञान हो जाने के बाद शरीर पर कुछ भी घटित हो पर चेतना का सहयोग नहीं होने से उसे पीड़ा नहीं होगी।

एक ब्रह्मयोगी थे, जिनमें एक विशेषता थी। ज़हर को जीभ पर रखें तो व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। पर वे योगी ज़हर को 30 मिनट तक जीभ पर रख लेते पर उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता था और उसके पश्चात् वे उस जहर को पेशाब के माध्यम से बाहर निकाल देते थे। कहा जाता है शिव ने जहर पिया और उसे कंठ में ही रोक लिया तो वे नीलकंठ बन गए। कंठ में रोक लिया तो मृत्यु नहीं हुई। उसका भी कारण है। मीरा बाई ने जहर पिया पर उसका उन पर कोई असर नहीं हुआ, क्योंकि उन्होंने स्वयं को अनुपस्थित कर लिया था।

दो यात्री यात्रा करते हुए जा रहे थे। मार्ग में एक जगह रुके। एक मांजी के घर आश्रय मांगा। रात्रि–विश्राम के पश्चात् वे जाने लगे तो मांजी ने कहा– अरे बेटों ! ऐसे कैसे जा रहे हो ? खाली पेट नहीं जाने दूँगी। यात्रियों ने कहा– मांजी ! अभी रात्रि है, तैयारी करना ठीक नहीं। मांजी ने कहा– नहीं बेटों मैंने छाछ बिलो ली है और कुछ नहीं तो कम से कम छाछ तो पीते जाओ। मांजी का आग्रह होने से उन्होंने छाछ पी ली और रवाना हो गए।

बारह वर्ष पश्चात् पुनः लौटे तो फिर उसी घर में रुके। बुढ़िया तो उन्हें पहचान नहीं पाई परन्तु उन्होंने मांजी को पहचान लिया और बोले मांजी हमें पहचाना या नहीं। मांजी ने कहा– नहीं पहचाना। मांजी बारह वर्ष पहले हम आये थे। जाते समय तुमने छाछ पिलाई थी। आज लौटकर आए हैं। मांजी ने कहा–अरे ! तुम सकुशल हो ? मैं तो सोच रही थी कि मुझे हत्या का पाप लगेगा। उन्होंने पूछा– क्यों मांजी, क्या हुआ ? उत्तर मिला बैटे ! उस रात्रि मैंने छाछ बिलोई थी। सुबह देखा तो छाछ हरी–नीली दिखाई दी। मैंने देखा उस छाछ में एक सर्प भी बिलो लिया था और उसका कलेवर भी उसमें मिल गया था। मुझे विचार हुआ ओ हो... वे अतिथि जीवित नहीं रहें होंगे। मैं अफसोस करने लग गई थी। बेटे तुम बच गए यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। किन्तु बच कहाँ गए ? ज्योंही जहरीले सर्प की बात सुनी वे नीचे गिरे, प्राण पखेरू उड़ गये।

इस दृष्टांत को प्रस्तुत करते हुए ज्ञानी जनों ने कहा है– पूर्व की घटनाओं का तथा जिन काम–भोगों का, एवं इन्द्रिय विषयों को अनुभव किया है उनका स्मरण नहीं करना चाहिये। क्योंकि स्मृति के आधार पर हो सकता है कि तुम साधु जीवन से विचलित हो जाओ। वे काम–भोग, विषय वासनाओं, नृत्य–गीत के स्वर कानों में गूँजने लगें, संसार के वे चित्र, टी.वी. चित्रों की भाँति उभरने लगें और तुम्हारा मन विचलित हो जाय, अतः पूर्व भुक्त का स्मरण नहीं करना,

उससे भेद रखना चाहिये। यदि जुड़ोगे तो चित्त वृत्तियों में उस प्रकार के भाव उभरेंगे। उभरने के साथ ही मानस चंचल होगा, पैर थिरकने लगेंगे, होंठ गुनगुनाने लगेंगे। इस प्रकार विषय वासना की मानसिकता पूर्णतः हावी हो जायेगी। बात बहुत छोटी लगती है पर है महत्वपूर्ण। इसलिए कहा गया है कि साधु को संयमित अवस्था ही ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा एक बार यदि संकल्प में शिथिलता आई तो वह पुनः पुनः कचोटेगी, द्वार खट–खटायेगी। पुनः साधक शिथिल होगा और उसकी दशा इन्द्रियरामी हो जावेगी और आत्मोद्धार की दिशा में उसकी गति बाधित हो जायेगी।

कहा गया है– सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आत्मरामी रे। मुनि कौन ? वह जिसने भेद–विज्ञान को जान लिया। इस संदर्भ में पूज्य गुरूदेव जोधपुर के पास के तिवरी गाँव के पीरदानजी से संबंधित वृत्तांत सुनाया करते थे। पीरदानजी की दीक्षा की भावना थी पर वृद्धा माता कहने लगी– पीरू मैं अनुमति नहीं दे सकती। तुम्हारा ही आधार है, कैसे आज्ञा दूँ। पीरदान जी कर्त्तव्यभाव से घर पर रहने लगे। उन्होंने एक प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली कि मैं हाथ से लेकर भोजन नहीं करूँगा। अतः जो कुछ परोसा जाता समभाव से खा लेते, नुक्ताचीनी नहीं करते।

एक दिन वे दुकान से आये, पत्नी बाहर गई हुई थी, माता बैठी थी ! माँ की आँखों की रोशनी कमजोर थी। माता ने कहा– बेटा आ गया, तो स्वयं परोस कर जीम ले। पीरदान जी ने कहा– माँ मेरी प्रतिज्ञा तुम जानती हो मैं अभी जा रहा हूँ फिर जैसा अवसर होगा आ जाऊँगा। माता जानती थी कि एक बार जाने के बाद पता नहीं वह कब आ पाएगा। माँ उठी, गई चौके में और एक बड़ी हांड़ी थी, आजकल तो बर्तन प्रयोग में आते हैं पर उस समय मिट्‌टी की हंड़िया काम में लेते थे। माता ने लकड़ी का चाटु (चम्मच) उठाया और हिलाकर थाली में भोजन परोस दिया। वे चुप–चाप भोजन करके

रवाना हो गए। थोड़ी देर बाद पत्नी आई, रसोई में देखा भोजन ज्यों का त्यों रखा था तो सासूजी से पूछा– वे आये नहीं क्या ? माता ने कहा– आया था, मैंने परोसा दिया। उसने देखा जो खीच बनाया था वह तो पूरा पड़ा था। उसने दूसरी हांड़ी मे देखा जिसमें पशुओं के लिए बांटा (गवार) रांधा गया था। माता ने वही परोस दिया। माता को बहुत दुःख हुआ। कहा– मुझे तो मालूम नहीं था, पीरू तू ही बोल देता। उन्होंने कहा– माँ पशु में भी आत्मा है। मुझे तो पेट को भाड़ा ही चुकाना था।

सुनने में तो ये बातें सरल लगती हैं पर हैं कठिन जब आचरण में आ जाय। साग में नमक कम हो गया तो आप ऊपर से वचनों का कितना नमक घाव पर छिड़क दोगे ? नमक की ही बात नहीं है, यदि घर पर मेहमान आ गये और आपके मन के अनुकूल कार्य नहीं हुआ। बल्कि कोई जली हुई चीज परोसने में आ गई तो क्या आपका पारा नहीं चढ़ेगा ? इस स्थिति में आप यही निर्णय कर लेंगे कि बड़ी फूहड़ है, पाँच के बीच मेरी पोजीशन खराब कर दी। लेकिन व्यक्ति यदि पूर्णतया अध्यात्म में रम जाये, फिर ऐसी चिन्ता नहीं रहे। कवि वही बात कह रहे हैं कि योगी को फिर चिन्ता नहीं रहती कि दुनिया क्या कहती है। दुनिया भले पागल कह दे, पर कहने से क्या बनता बिगड़ता है। कोई कह दे करोड़पति हो जाओ तो क्या हो जाओगे ? किसी के कहने से रोड़पति हो जाओगे ? होते नहीं हैं परन्तु प्रतिक्रिया ऐसी ही दिखाते हैं। क्योंकि अविद्या के बीज मन में यत्र–तत्र बिखरे हुए हैं। सिंचन मिलते ही वे पौधों के रूप में पनपने लगते हैं। समझ लीजिये कि यदि अहं का विषवृक्ष सींचते रहे तो वह फैलेगा ही।

दो भाईयों में वर्षों से झगड़ा चल रहा था। झगड़ा और कुछ नहीं २–४ फीट जमीन को लेकर था। वैसे तो व्यक्ति कहेगा मेरा भाई है। यदि उसमें दीक्षा के भाव उत्पन्न हो जायें तो कहेंगे भाई को आज्ञा

कैसे दूँ। पर यह नहीं सोचेंगे घर में रहते हुए भाई को कितना आदर दिया। पर दीक्षा का नाम आया तो अड़चन ड़ालने के लिए खड़े हो जावेंगे। अभी तो परिवार का पालन करो, दीक्षा कैसे लोगे ? उन भाइयों में झगड़ा बढ़ा। आपस में बात–चीत बन्द हो गई और बात न्यायालय में पहुँच गई। व्यक्ति जब नशे में होता है तब उसे भान नहीं रहता। एक बार भंग पी ली तो लहरें लेता ही रहेगा। कोर्ट में बात चली गई तो फिर चाहे पीढ़ियाँ बीत जायें पर फाईल ऊपर नहीं आती। बाप के बाद बेटा और बेटे के बाद पोते का नम्बर भी आ गया पर केस निपटा नहीं। कचहरी जाना पसन्द है। पर समझौता पसन्द नहीं करेगे। संयोग से एक दिन घर में बच्चों की आपस में टकराहट हो गई। दो प्लेटों में पपीते के टुकड़े रखे थे। एक बच्चे ने अपनी प्लेट के सारे टुकड़े गट कर लिए और दूसरी प्लेट की ओर भी हाथ बढ़ा दिया। छोटे बच्चे ने कहा– मेरे हिस्से के क्यों लेते हो ? बात बढ़ी और मार–पीट भी हो गई। जैसे ही पिता ने देखा, कहने लगे– क्या हो गया ? छोटे बालक ने कहा– मेरा हिस्सा मुझे मिलना चाहिए। पिता ने समझाया बेटे लड़ाई से क्या होना है ? उसने खा लिया तो दूसरा लायेंगे। बच्चे कहने लगे– पापा आप हमें तो समझा रहे हैं पर आप भाई–भाई झगड़ा क्यों करते हैं। २–४ फीट जमीन हमारे पपीते की तरह ही तो है। यह है, इन्द्रियरामी अवस्था। अविद्या के बीज ही झगड़े का कारण थे। इसलिए प्रभु महावीर कहते हैं– "जावंतऽविज्जा पुरिसा"

अविद्या से ही सारे दुःख संभव होते हैं। अनंत बार वह संसार में डुवाती है, जन्म मरण के चक्र में प्राणी घूमता रहता है। शास्त्रकार ने उन्हें– *'लुप्पंति वहुसो मूढ़ा'* –मूढ़ कहा है, गहरी चोंट की है ताकि कोई जगे, पर आज व्यक्ति इतनी वेहोशी में है कि वह जागता ही नहीं। संतो का काम है सुनाना, पर क्या सुनने वालों का कोई काम नहीं है ? संत जगाने आये हैं–

उठ जाग रे चेतन, निर्दिया उड़ा ले मोह राम की।
कोन कहाँ से आया है तू जाना कौन मुकाम ?
किन संबंधों में उलझा है, सोच जरा नादान रे॥

मोह–राग की नींद उड़ाना है क्योंकि ये अविद्या के पोषक तत्व हैं। इन्हें दूर कर दिया तो फिर इन्द्रियरामी अवस्था भी नहीं रहेगी। तब अध्यात्म में गतिशील होंगे तथा अध्यात्म पथ पर बढ़ते हुए एक दिन पूर्णता को प्राप्त करने में सक्षम होंगे। मैं जिन ब्रह्मयोगी की बात कह रहा था वे 30 मिनट तक जीभ पर जहर रख लेते थे। एक दिन उन्होंने ३० मिनट की जगह ३५ मिनट रख लिया, उसी क्षण उनकी मृत्यु हो गई । क्योंकि वे ज्यादा से ज्यादा ३० मिनट ही देह–भाव से मुक्त रह सकते थे। प्रभु महावीर ने इसीलिए कहा है– *'समयं गोयम मा पमायए'*

गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद मत कर। एक क्षण भी इन्द्रियरामी अवस्था आ गई तो वह अध्यात्म की हत्या करने वाली होगी। एक मौका ही बहुत से सद्गुणो को नष्ट कर देगा। हम जानते हैं कि जातिवान वृक्षों को बढ़ने में समय लगता है। पर घास–फूस को थोड़ा सा भी पानी मिला तो वह झट अपना फैलाव कर लेती है। जातिवान वृक्षों को वर्षों तक सींचना पड़ता है। कहते हैं आम बोते हैं तो १२ वर्षो का समय फल लगने में लगता है, जबकि बाजरी ६0 रातों में और जवारी ६0 रातों में तैयार हो जाती है। इसी प्रकार हमारे भीतर आत्म–संस्कारों को बढ़ने में समय लगता है और कहीं एक बार भी इन्द्रियरामी अवस्था में चले गये तो वे संस्कार बहुत नीचे चले जाते हैं।

इसी प्रकार प्रमाद के संस्कार अध्यात्म को ढ़ँकने वाले होते हैं। अविद्या के ये विष वृक्ष जीवन रस का शोषण करने वाले हैं अतः हमें संकल्प करना है कि इन्द्रियरामी अवस्था में न जाकर अध्यात्म–रमणता को प्राप्त करना है। आत्मा उसे कैसे प्राप्त करे यह चिंतन करना है।

अपनी आत्मा या चैतन्य देव का सुमति रूपी प्रज्ञा के प्रति अडिग [illegible] समर्पणा भाव पैदा हो, वह 'अप्पाणं शरणं गच्छामि' अर्थात् आत्मा की शरण ग्रहण करे यही हमारा लक्ष्य रहे। आत्मा ही देव है, गुरु है, धर्म है। पर कब ? जब आत्मा उस अवस्था में पहुँच जाय। देव-गुरु-धर्म के प्रति अविचल आस्था से हम आत्मा को वह [illegible] करें कि भले ही संकट भी आयें पर हमें उत्तीर्ण होना है। जिसने वर्ष भर ऐसा अध्ययन कर लिया वह पेपर चाहे कितना भी कठिन हो, घबराता नहीं है। मन की दृढ़ता और मन, वचन, काया की अविचल समर्पणा से हर सफलता प्राप्त होती है और संकट हम पर [illegible]। अविद्या के पौधे को उखाड़ फेंकें तो हम अध्यात्म [illegible] में सत्-चित्-आनंदमय स्वरूप में सदा सदा के लिए निमग्न हो जायेंगे। OO

दि. 18.10.96



21. हम आत्मारामी बनें

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी आतम रामी नामी रे।
अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।।

श्रेयांसनाथ भगवान की महिमा अपार है, उनकी प्रार्थना श्रेय मार्ग की दिशा में गति कराने वाली है और जब श्रेय मार्ग में गति का प्रसंग बनता है तब सहज ही आत्मरामी अवस्था प्राप्त होती है। परन्तु सामान्यतः व्यक्ति इन्द्रियरामी अवस्थाओं में ही गति करता रहता है और अपना वर्तमान व भविष्य दोनों बिगाड़ लेता है। तब समझें कि इन्द्रियरामी और आत्मरामी अवस्थाओं का स्वरूप क्या है ? आत्मरामी अवस्था आत्मा की दिशा में और इन्द्रियरामी अवस्था पौद्गलिक भावों में बढ़ना है। पर दूसरे दृष्टिकोण से चिन्तंन करें तो एक और बात सामने आती है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तीर्थंकर देव ने जो स्वरूप अभिव्यक्त किया, वह है कि राग–द्वेष की अवस्थाओं से हट कर एकान्त में वास करें। पुराने युग में ऋषि मुनि महात्मा आदि वनों में तपस्या हेतु वास करते थे। तीर्थंकर भगवान् के लिए अनेक आख्यानों में उल्लेख है कि वे नगर के बाहर उद्यान में ठहरे। क्या उन्हें नगर के भीतर मकान नहीं मिलता था ? क्या मकानों की कमी थी ? उस समय भी हवेलियाँ, मकान थे , आवासों की कमी नहीं थी फिर भी उनका नगर के बाहर वास करना बहुत अर्थ रखता है। साधना के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवस्था कैसी हो यह ध्यान रखना भी आवश्यक होता है ? बड़े नगरों में अपराध वृत्ति विशेष पनपती है। नगर जितना ज्यादा बड़ा हागा अपराध उतने ही ज्यादा पनपेंगे। गाँवों में इतने अपराध नहीं होते । ऐसा क्यों होता है यदि इस पर विचार करें तो यह तथ्य प्रकट होगा कि जहाँ जितनी ज्यादा भीड़ होगी, जितना जमाव होगा, मनुष्यों का गहन आवास होगा, वहाँ मनुष्य का मानस कुछ अलग ढ़ंग का होगा। विचार कीजिये कि लोग

पुराने शहरों में रहना ज्यादा पसन्द करते हैं या कॉलोनी में रहना ? यह पसंद उनकी मानसिकता को प्रकट करती है। इसका कारण है, जहाँ मनुष्य रहता है वहाँ उसकी विचार तरंगे भी विकीर्ण होती हैं। तीर्थकरों ने भी कहा है कि जैसे विचार होंगें, वैसी ही मनोवर्गणा के पुद्‌गलों का प्रभाव सामने वाले पर तथा दूसरों पर भी होगा।

मनोविज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि व्यक्ति के आवास स्थल एवं आसपास के पर्यावरण का प्रभाव उसके विचारों एवं अध्यवसायों पर पड़ता है तथा उसका व्यवहार इन्हें ही प्रतिबिम्बित करता है। इस प्रकार पशु, व्यक्ति या वनस्पति कोई भी क्यों न हो वातावरण का प्रभाव सभी पर पड़ता है। साधक के लिए प्रभु ने कहा है कि जब वह जंगल से निकले विहार करता हुआ, तो मन में ऐसे विचार न लाये, न ऐसी भाषा का ही प्रयोग करे कि यह वृक्ष मोटा है इसे काट दिया जाय तो अच्छे तखते, पाटे बन सकते हैं। क्योंकि उसके भाव प्रतिबिम्बित होकर वृक्ष तक पहुँचते हैं और उसे पीड़ा पहुँचाते हैं। पहले तो जो कह दिया जाता था वह व्यक्ति मान लेते थे, निर्ग्रन्थ ने जो कहा वही अर्थ है, शेष अनर्थ है। भगवान ने कहा है– *'निग्गंथं पावयणं सच्चं'* पर आज तर्क होगा–ऐसा क्यों नहीं बोलना अथवा सोचना चाहिये, वृक्ष क्या समझता है ?

पर जहाँ रोग है वहाँ निदान भी है। तर्क उपजे तो खोज भी की गई। खोज करते हुए वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि वनस्पति में भी संवेदन क्षमता होती है। व्यक्ति की भाव धारा का असर उस पर भी पड़ता है। डॉ. वेंकटसन एवं जगदीश चन्द्र वसु ने भी प्रयोग किये। वेंकटसन ने तो यहाँ तक प्रमाणित किया कि यदि वनस्पति के सामने जाकर गाली–गलौंज करें तो कुछ पौधे कुम्हला जाते हैं। यह सारी प्रक्रिया यंत्रों के माध्यम से देखी जा सकती है। अव कहा–वोलना नहीं है, केवल मन में संकल्प करें कि इस पौधे को तोड़ दिया जाय. ....तोड दिया जाय....तोड दिया जाय...। मन के भावों से वह पौधा

कुम्हला गया। तीर्थंकरों ने कितनी गहरी बातें कही हैं, पर हमने शोध नहीं किया। विज्ञान ने शोध की, तो पता लगाया कि बड़े शहरों में अपराध वृत्ति अधिक क्यों पनपती है ? बड़े शहरों में जितने मामले सामने आते हैं उतने छोटे गाँवों में नहीं आते। छोटे गाँवों के मामले ऊपर जाते भी हैं तो वे वकीलों के कुचक्र के कारण, अन्यथा अपनी समस्याएँ गाँव वाले स्वयं निपटा लेते हैं। आपराधिक वृत्तियाँ पनपती हैं वहीं, जहाँ मनुष्यों का अधिक जमाव हो, उनका कोई संगठन बने। और तभी विचार तरंगें भी पनपती हैं। जब भीड़ इकट्ठी होती है तब कुछ लोगों की समझदारी चलती नहीं। भीड़ का अलग मनोविज्ञान होता है। भीड़ में उन्माद बहुत जल्दी फैलता है और किसी भी क्रिया की त्वरित और व्यापक प्रतिक्रिया होती है। अकेला व्यक्ति सामान्यतः सहज ही विवेक को नहीं छोड़ता, वह दुस्साहस करने से भी बचता है। कहावत भी है कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। इन्द्रियरामी अवस्था ही अपराध पैदा करती है। साधना के लिए भीड़ नहीं चाहिये इसलिये जंगल का क्षेत्र चुना जाता है। वहाँ विचारों में निर्मलता बनी रहती है। आप अकेले रहेंगे तो अपराध भाव जागृत नहीं होंगे और वायुमण्डल भी शुद्ध रहेगा। परिवेश दूषित वहीं होगा जहाँ बस्ती घनी होगी। हम स्वयं अनुभव करते हैं कि खुले क्षेत्र में शांति की अनुभूति होती है। हम बगीचे में जाते हैं तो विचारों में पवित्रता आती है। क्योंकि वहाँ प्रकृति का सान्निध्य प्राप्त होता है। साधना के लिए प्रवेश करना है तो अकेले को गति करनी होगी। कहा भी गया है–

सिंहो के लंहड़े नहीं, हंसो की नहिं पाँत।
लालो की नहिं बोरियाँ, साधु न चले जमात।

साधना के लिये नहीं, विभावों के लिए ही सहयोगी की अपेक्षा होगी। इन्द्रियरामी जो इन्द्रियाँ हैं वे समूह रूप हैं, पाँच हैं, इसीलिये अपराध में तत्पर होने की उनकी प्रवृत्ति होती है। उनके साथ मन का सहयोग भी मिला तो अनेक का जमाव हो जाता है। इस प्रकार ग्रुप

बनता है और आगे बढ़ने की तैयारी होती है। अपराध ग्रुपिंग में पनपते हैं। इन्द्रियरामी अवस्था में समूह का सहयोग होता है, शहरों के बारे में एक रिर्पोट में उल्लेख था कि दस में से नौ अपराध इसलिए हुए थे क्योंकि उन्हें वैसे ही सहयोगी मिल गये थे। अधिकांशतया ग्रुपिंग में दुष्प्रवृत्तियों में लीन होने के कारण अपराध पनपते हैं। हमें पता है कि ठगों, चोरों, अपराधियों आदि के अपने सुदृढ़ संगठन होते हैं। सज्जन को संगठन बनाने की आवश्यकता ही नहीं होती । व्यसन अकेले प्रारंभ नहीं होते। दोस्तों का योग मिला, कहने लगे–एक सिगरेट पीकर तो देख। दो–चार बार तो उन्होंने पिला दी फिर धीरे–धीरे मन स्वयं प्रवृत्त होने लगा और व्यसन विकसित हो गया । क्या जुआ अकेले खेला जा सकता है ? आप जानते हैं यदि जुँआ खेलने वाले को उत्साह बढ़ाने वाला मिल जाय तो वह बढ़ता ही जाता है।

सुना है कि उदयपुर के महाराणा जब शिकार खेलने जाते तो अनेक भील भी उनके साथ जोश बढ़ाने जाते थे। वे कहते देखो–देखो वे जा रहे हैं और महाराणा शिकार कर देते । इसलिए कहा गया हैं कि ऐसे कार्यो में अनेक लोगों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार अनेकत्व साधना में बाधक बनता हैं । प्रभु ने कहा है– साधना के लिए अनेक से एक में प्रवेश करो । इन्द्रियरामी अनेक में होगा, आत्मरामी को अनेक मे से एक में प्रवेश करना होगा । एक में प्रवेश कर गये तो वहाँ से श्रेय मार्ग प्रारंभ हो जायेगा पर यह प्रारंभ तब हो जब हम श्रेय मार्ग को समझते हों।

एक निपुण कलाकार ने एक चित्र बनाया । उसमें रंग का भराव इतना सुंदर था कि देखने वाला मुग्ध हो जाये– सजीव चित्र था। लोग देखकर हर्ष विभोर हो जाते । एक बार उसने अनोखी कलाकारी से एक भवन का चित्र बनाया। उसमें रंगों का सुन्दर मिश्रण था। उस चित्र को प्रदर्शनी में रखा गया। चित्र की प्रशंसा सुनकर लोग आने लगे। जो भी चित्र देखता वह देर तक उसकी

प्रशंसा करता रहता। एक कलाविद् भी पहुँचा। उसने देखा वास्तव में भवन का बहुत ही सुन्दर चित्र बनाया था। उसे भी मन को मोहने वाला लगा। उस भवन के द्वार पर एक देवोपम पुरुष का चित्र दर्शाया गया था, जो उस द्वार पर थपकी लगा रहा था। दरवाजा बंद था अतः वे थपकी लगाते हुए बाहर खड़े थे। वह मुग्ध हो गया– यह तो भव्य चित्र है ! सहसा उस चित्र में एक त्रुटि दिखाई दी जो उसे अखर गई। उसने कहा– भवन तो अत्यन्त सुन्दर है पर इसमें एक त्रुटि है। एक कमी रह गई है। पूछने पर उस कलाविद् ने कहा– इसमें दरवाजा है और सब कुछ है, पर द्वार पर हत्था नहीं है तो उसे खोला कैसे जावेगा ? चित्र बनाने वाले कलाकार ने कहा यही तो इस चित्र की रमणीयता है। यदि इसमें हत्था लगा दिया तो यह चित्र दो पैसे का हो जावेगा। इसकी कीमत हत्था नहीं होने से ही है। फिर टिप्पणीकर्ता को असमंजस में देखकर चित्र बनाने वालो ने कहा – भाई साहब यह भवन है 'मनुष्य के हृदय का' जिसका द्वार बाहर नहीं भीतर से खुलता है। परमात्मा भी कितनी ही थपकी दे पर खोल नहीं पायेंगे। कितनी गंभीर बात है हृदय का द्वार बाहर से कोई नहीं खोल सकता। वह तो अन्दर से अर्थात् अन्तः प्रेरणा से ही खुलता है। हृदय रूपी घर में प्रवेश कैसे हो सकता है ? कहते हैं हृदय भवन में कुटिलता का भी वास होता है। उस भवन की पहले चमड़े की दिवार है, फिर हड्डियों का वेष्टन है जिसके कारण वह कुटिलता छिपी रहती है और अपने अहं रूप अनुचरों को भेज देगी। वह स्वयं तो गहरे में बैठी रहती है और दरवाजा भी बंद रखती है फिर भीतर प्रवेश कैसे हो ? दरवाजे पर इस प्रकार बैठी है कि– *'जावंतऽविज्जा पुरिसा'*

वह अविद्या खोलने नहीं देती। उसी हृदय में परमात्मा का वास होता है। पर जब तक अविद्या का दायरा फैला हुआ है और छल प्रपंच में चेतना उलझी हुई है तब तक भीतर से द्वार नहीं खुल

पायेगा। अतः परमात्मा का प्रवेश भी नहीं हो पायेगा। आत्मा की अपने ऊपर रही अविद्या की छाया जब दूर हटेगी तब ही वह द्वार भी खोल सकेगी। इसके लिए स्वयं आत्मा को कोई पहल करनी होगी। वहाँ कोई सहयोगी साथी नहीं होगा। तब यदि वह स्वयं जान ले कि प्रवेश कैसे करना है तब ही वह द्वार खोल पायेगी। परन्तु जब तक सयल संसारी इन्द्रियरामी हैं, तब तक ऐसा कैसे होगा ?

श्रेयांसनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए कवि ने कहा है कि जब तक इन्द्रियरामी अवस्था में आत्मा उलझा है, अपराध वृत्तियों के चक्कर में पड़ा उनका दास बना हुआ है और निरन्तर उन्हीं की ओर प्रेरित हो रहा है तब तक उद्धार का कोई रास्ता नहीं। यदि हम अन्तररामी अवस्था की ओर बढ़ें तो वह अध्यात्म की दिशा में गति होगी। अध्यात्म में प्रविष्ट हो जाने के बाद तो श्रेय का पौधा विकसित होने लगेगा। वह अत्यन्त शीतलता देने वाला होगा। उसकी छाँह में शांति की अनुभूति होगी जबकि इन्द्रियों के प्रभाव में दुःख, भटकाव, छलावा आदि की अनुभूति होती है। परन्तु मूल से भटका हुआ व्यक्ति उसी में आनंद मानता हुआ स्वयं को ठगता रहेगा। ठगोरी इन्द्रियों द्वारा ठगाता चला जायेगा। हमारा ठगाव न हो इसलिए इस स्थिति से बाहर निकलें, अवश्य ही कोई न कोई मार्ग मिल जायेगा। परमात्मा का वास हृदय में करा लिया फिर आनंद की सीमा नहीं रहेगी। मानतुंगाचार्य ने कहा है–

दृष्ट्वा भवंतमनिमेष विलोकनीयम्...

एक बार जिसने परमात्मा की छवि हृदय पटल पर अंकित कर ली फिर उसे अन्यत्र कहीं संतोष नहीं मिलेगा। वह तो उसी एक छवि से परम संतुष्ट हो जायेगा और इधर–उधर मंडराना छोड़ देगा। इसलिये अंतर की उस छवि को देखो–

छवि अन्दर की जिसने देखी, वह फिर बाहर क्या देखे ?
अक्षय पर आँखें हैं जिसकी, वह क्षण भंगुर को क्या देखे ?

अंजना ने जब अपने पति को हृदय में बसा लिया तब फिर क्या वह किसी दूसरे को उसमें बिठा पाई ? इसलिये एक परमात्मा की शरण में जाओ, उसे ही साधो। उसी से सब सध जायेगा। कहा भी गया है–

एक साधे सब सधे, सब साधे जब जाय।

एक को हृदय में गहरा बिठा लिया फिर किसी और के लिये इधर–उधर झांकना भी नहीं। जो अपनी स्त्री को छोड़ इधर–उधर झांके उसे लम्पट कहते हैं। इसी प्रकार यदि हम अपने आत्म धर्म को छोड़ इधर–उधर भटकते हैं तो हम भी लम्पट हुए। अतः हमें यह देखना है कि हम कहीं भटक तो नहीं रहे हैं। पेंडुलम की भाँति कहीं हमारी डांवाडोल स्थिति तो नहीं हो रही है। संत कबीरदास जी ने कहा है–

चक्की चले तो चलने दे, पिस-पिस आटा होय।
लगा रहे जो कील से तो बाल न बाँका होय।।

एक कील को जिसने पकड़ लिया वह सुरक्षित रहता है जबकि दो पाटों के बीच आने वाला पिस जाता है। पर जिसने कील को पकड़ लिया उसका कुछ नहीं बिगड़ता। ऐसी ही सुरक्षा आत्मा की कीली से लगे रहने वाले को उपलब्ध होती है। जो दाने विचलित होते हैं वे पिस दिये जाते हैं परन्तु जो विचलित नहीं होते, कीले से चिपके रहते हैं वे बच जाते हैं। विचलित होने वाला ही भटकता है, अपनी स्वयं की हानि करता है। हमारे विचारों में उतार–चढ़ाव आते हैं तभी चोट लगती है, निराशा के भाव आते हैं और असंतोष की वृत्ति पनपती है। इसलिये आवश्यक है कि एक ही छवि को हृदय में गहराई से उतार लें। एक पर भरोसा कर लें, एक के बल को अपना

बल मान लें, फिर संसार के सभी आकर्षणों–विकर्षणों, उतार–चढ़ा
निराशाओं और असंतोष भावों से मुक्ति मिल जायेगी। तुलसी ने ठ
ही लिखा है– एक भरोसे, एक वल, एक आस विश्वास, एक
घनश्याम हित चातक तुलसी दास। चातक और चकोर से साधक
समानता यों ही नहीं बताई गई है। उसके पीछे गूढ़ अर्थ है। साध
को संकेत दिया गया है कि वह आत्म भाव में स्थिर हो ज
आत्मरामी बनें।

क्रोध, मान, मद, ईर्ष्या, विषय वासना को छोड़ दें, भीड़
छोड़कर आगे बढ़ जायें तो फिर आनंद में रम जायेगा। इन विभ
की भीड़ को छोड़कर अकेले बैठेगा तो पार पहुंच जाएगा। हम 'प
से अलग हों, हमें जिनेश्वर देवों के शासन में आचार्य भगवन् ज
गुरु के सान्निध्य का अवसर मिला है, इसका उपयोग करें, इन
आश्रय में आत्मारामी बनें और श्रेय मार्ग पर आगे बढ़ें। ○

दि. 19.10.9



श्री राम उवाच

के अन्य भाग